इकाई 01 - भारतीय समाज की विशेषताएं

Indian Society-Characteristics

इकाई की रुपरेखा

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 विविधता में एकता

1.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

1.2.2 भाषायी विविधता

1.2.3 प्रजातीय विविधता

1.2.4 धार्मिक विविधता

1.2.5 जातिगत विविधता

1.2.6 सांस्कृतिक विविधता

1.2.7 जनांकिकीय विविधता

1.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था

1.4 जाति-व्यवस्था

1.5 अध्यात्मिकता

1.6 सारांश

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

भारत इतना विशाल देश है, जिसमे अनेकों विभिन्नताएं पाई जाती हैं। प्रकृति के विविध रूप जैसे ऊचें- ऊचें- पहाड ,महासागर ,वन ,मरुस्थल व पठार आदि औ है। इस प्रादेशिक व भोगोलिक विविधता वाले विशाल भूखंड पर निवास करने वाला भारतीय समाज, विश्व के अति प्राचीन समाजो में से एक है। सेकडों भाषाओं और बोलियों का यह देश अनेक आदिवासीयो के सामाजिक जीवन की विचित्रताओ से युक्त है। भारतीय समाज के अध्ययन करने वाले विद्वानों ने भारतीय समाज की प्रमुख संरचनात्मक विशेषताऐ खोजने का प्रयास किया है। एम.एन.श्रीनिवास ने भारतीय सामाजिक संरचना कि प्रमुख विशेषता, इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता को बताया है। दयूमो ने श्रेणी को भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण माना है योगेन्द्र सिंह ने भारतीय समाज के प्रमुख संरचनात्मक व परम्परागत चार लक्षण बताये है : श्रेणी बेद्र्था , सम्रगवाद(Holism) , निरन्तरता(Continuity) तथा लोकातीत्व(transcendence) । प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की विभिन्न विशेषता पर चर्चा की गई है ।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज की विभिन्न विशेषताओं के बारे में पूर्ण जानकारी प्रदान करना है, ताकि भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं की पूर्ण जानकारी हो सके ।

1.2 विविधता में एकता

भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, विविधता में एकता जैसा कि हम जानते हैं कि, भारतीय समाज की विभिन्नता को कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। हमारा देश भूमध्य गोलार्द्ध में स्थित है। उत्तर से दक्षिण तक भारतीय भूमि की लम्बाई 3,214 किलोमीटर और पूरब से पश्चिम तक यह 2,933 किलोमीटर है। इस प्रकार भारत का कुल क्षेत्र 32,87,263 वर्ग किलोमीटर है। भारतीय समाज

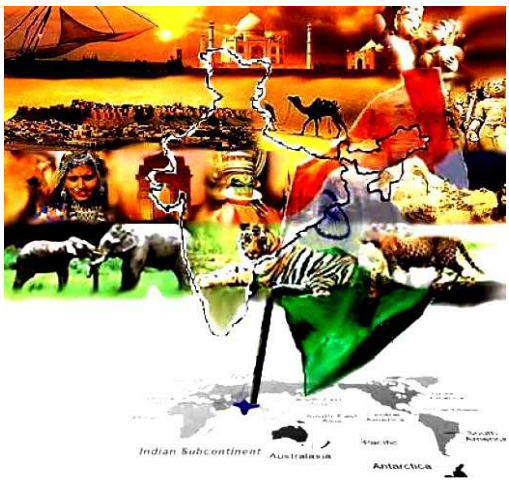

और संस्कृति में हमें अनेक प्रकार की विविधताओं के दर्शन होते हैं, जिन्हें धर्म, जाति, भाषा, प्रजाति आदि में व्याप्त विभिन्नताओं के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।इन विभिन्नताओं को कुछ मुख्य बिन्दुओं में बाँटकर अब हम उन पर चर्चा करेंगे –

1.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में अरूणाचल प्रदेश से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक अनेक भौगोलिक विविधतायें हैं। कश्मीर में बहुत ठंड है तो दक्षिण भारतीय क्षेत्र बहुत गर्म है। गंगा का मैदान है जो बहुत उपजाऊ है तथा इसी के किनारे कई प्रमुख राज्य, शहर, सभ्यता और उद्योग विकसित हुए। हिमालयी क्षेत्र में अनेक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल जैसे बद्रीनाथ, केदारनाथ तथा गंगा, यमुना, सरयू, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का उद्गम स्थल है। देश के पश्चिम में हिमालय से भी पुरानी अरावली पर्वतमाला है। कहीं रेगिस्तानी भूमि है तो वहीं दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी घाट, नीलगिरी की पहाड़ियाँ भी हैं।यह भौगोलिक विविधता भारत को प्राकृतिक रूप से मिला उपहार है।

1.2.2 भाषायी विविधता

भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है, प्राचीन काल से ही भारत में अनेक भाषाओं व बोलियों का प्रचलन रहा है। वर्तमान में भारत में 18 राष्ट्रीय भाषाएँ तथा 1,652 के लगभग बोलियाँ पाई जाती हैं। भारत में रहने वाले लोग इतनी भाषाएँ व बोलियाँ इसलिए बोलते हैं। क्योंकि, यह उपमहाद्वीप एक लम्बे समय से विविध प्रजातीय समूहों की मंजिल रहा है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को मुख्य रूप से चार भाषा-परिवारों में बाँटा जा सकता है।

- **ऑस्ट्रिक परिवार**-इसके अर्न्तगत मध्य भारत की जनजातीय-पट्टी की भाषाएँ आती हैं जैसे-संथाल, मुण्डा, हो आदि।
- **द्रावीड़ियन परिवार**-तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गोंडी, आदि।
- **साइनो-तिब्बतन परिवार**- आमतौर पर उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातियाँ।
- **इंडो-यूरोपियन परिवार**-भारत में सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषाएँ व बोलियाँ इण्डो आर्य-भाषा परिवार की हैं। जहाँ एक ओर पंजाबी, सिंधी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं वहीं दूसरी ओर मराठी, कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, हिन्दी,उर्दू, छीसगढ़ी, बंगाली, मैथिली, कुमाउंनी, गढ़वाली जैसी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं।

भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में केवल 18 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं। यह भाषाएँ असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी, हिन्दी, नेपाली, कोंकणी और मणिपुरी हैं। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 343(2) के रूप में हिन्दी के साथ अंग्रेजी भाषा को भी सरकारी काम-काज की भाषा माना गया। सभी भाषाओं में हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो 2001 की जनगणना के अनुसार सबसे ज्यादा लोग बोलते हैं अर्थात् 248 करोड़।

1.2.3 प्रजातीय विविधता

प्रजाति ऐसे व्यक्ति का समूह है जिनमें त्वचा का रंग, नाक का आकार, बालों के रंग के प्रकार आदि कुछ स्थायी शारीरिक विशेषताएं मौजूद होती हैं। भारत को प्रजातियों का अजायबघर इसीलिए कहा गया है क्योंकि, यहाँ समय-समय पर अनेक बाहरी प्रजातियाँ किसी-न-किसी रूप में आती रहीं और उनका एक-दूसरे में मिश्रण होता रहा। भारतीय मानवशास्त्री सर्वेक्षण के अनुसार देश की प्रजातीय स्थिति को सही तरह से समझ पाना कठिन है। प्रजाति व्यक्तियों का ऐसा बड़ा समूह है जिसकी शारीरिक विशेषताओं में बहुत अधिक बदलाव न आकर यह आगे की पीढ़ियों में चलती रहती हैं। संसार में मुख्यतः 3 प्रजातियाँ काकेशायड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड पाई जाती हैं। सरल शब्दों में इन्हें हम ऐसे मानव-समूह के नाम से सम्बोधित करते हैं जिनके शरीर का रंग सफेद, पीला तथा काला हो। भारतीय समाज में शुरू से ही द्रविड़ तथा आर्य, प्रजातीय रूप से एक-दूसरे से अलग थे। द्रविड़ों में नीग्रॉयड तथा आर्यों में कॉकेशायड प्रजाति की विशेषताएं अधिक मिलती थीं। बाद में शक, हूण, कुषाण व मंगोलां के आने पर मंगोलॉयड प्रजाति भी यहाँ बढ़ने लगी व धीरे-धीरे यह सभी आपस में इतना घुल-मिल गईं कि, आज हमें भारत में सभी प्रमुख प्रजातियों के लोग मिल जाते हैं।

1.2.4 धार्मिक विविधता

भारत में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक रूपों तथा सम्प्रदायों के रूप में वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, नानक पन्थी, आर्यसमाजी आदि अनेक मतों के मानने वाले अनुयायी मिलते हैं। इस्लाम धर्म में भी शिया और सुन्नी दो मुख्य सम्प्रदाय मिलते हैं। इसी प्रकार सिक्ख धर्म भी नामधारी और निरंकारी में, जैन धर्म दिगम्बर व श्वेतांबर में और बौद्ध धर्म हीनयान व

महायान में विभक्त है। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है ,जहाँ सभी को अपने-अपने धर्म का आचरण व पालन करने की छूट मिली है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में हिन्दू धर्म के अनुयायी सबसे ज्यादा अर्थात् 81.92 प्रतिशत, मुस्लिम धर्म के 12.29 प्रतिशत, इसाई धर्म के 2.16 प्रतिशत, सिक्ख धर्म 2.02 प्रतिशत, बौद्ध धर्म 0.79 प्रतिशत जैन धर्म के 0.40 प्रतिशत तथा अन्य 0.42 प्रतिशत हैं। इस प्रकार सभी धर्मों के लोगों की उपस्थिति को यहाँ देखकर यह कहा जा सकता है कि, देश की धार्मिक संरचना बहुधर्मी है।

1.2.5 जातिगत विविधता

'प्यूपिल ऑफ इण्डिया' के अनुसार भारत में लगभग 4,635 समुदाय हैं। यह भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है, जो और कहीं नहीं पायी जाती। यह व्यक्ति को जन्म के आधार पर एक समूह का सदस्य मान लेता है, जिसके अन्तर्गत समूह अपने सदस्यों के खान-पान, विवाह और व्यवसाय, सामाजिक सम्बन्धों हेतु कुछ प्रतिबन्धों को लागू करता है। आज बाहरी प्रजातियाँ भी हमारी जातियों में ही समाहित हो गई हैं, यह इस व्यवस्था की व्यापकता को ही दर्शाता है। यद्यपि कई विचारकों जैसे के॰ एम॰ पणिक्कर और ईरावती कर्वे ने माना है कि जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को खण्ड-खण्ड में बाँट दिया है।

1.2.6 सांस्कृतिक विविधता

भारतीय संस्कृति में हम प्रथाओं, वेश-भूषा, रहन-सहन, परम्पराओं, कलाओं, व्यवहार के ढंग, नैतिक-मूल्यों, धर्म, जातियों आदि के रूप में भिन्नताओं को साफ तौर से देख सकते हैं। उत्तर-भारत की वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन आदि अन्य प्रान्तों यथा दक्षिण, पूर्व व पश्चिम से भिन्न हैं। नगर और गांवों की संस्कृति अलग है, विभिन्न जातियों के व्यवहार के ढंग, विश्वास अलग हैं। हिन्दुओं में एक विवाह तो मुस्लिमों में बहुपत्नी-प्रथा का चलन है, देवी-देवता भी सबके अलग-अलग हैं। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 91 संस्कृति क्षेत्र हैं। गांवो में संयुक्त परिवार प्रथा तथा श्रमपूर्ण जीवन है तो शहरों में एकांकी परिवार है। अतः स्पष्ट है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक विविधताएँ लिए हैं।

1.2.7 जनांकिकीय विविधता

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ से अधिक थी जो आज 121 करोड़ तक पहुँच चुकी है। देश के विभिन्न राज्यों में जनसंख्या में बहुत विविधता मिलती है। उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का कुल 16.17 प्रतिशत हिस्सा है तो उत्तर-पूर्वी राज्यों सिक्किम, मिजोरम, अरूणांचल प्रदेश, गोवा, मणिपुर आदि में कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग रहता है। दिल्ली में औसतन 9,294 लोग एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहते हैं तो वहीं अरूणांचल प्रदेश में इतने में 13 लोग रहते हैं। साक्षरता की दृष्टि से भारत का अध्ययन करने पर चलता है कि,सबसे कम साक्षरता बिहार में 47 प्रतिशत तथा सबसे अधिक लोग 99.1 प्रतिशत केरल मे साक्षर हैं। देश में 6.78 करोड़ के लगभग विभिन्न जनजातियों के लोग रहते हैं जिनकी जीवन शैली बिल्कुल अलग है। कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े वर्गों की जनसंख्या 47 प्रतिशत है।

बोध प्रश्न 1

i) भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में केवल 15 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं- **सत्य /असत्य** -------

---

ii) प्रजाति ऐसे व्यक्ति का समूह है जिनमें त्वचा का रंग, नाक का आकार, बालों के रंग के प्रकार आदि कुछ स्थायी शारीरिक विशेषताएं मौजूद होती हैं। **सत्य /असत्य**----------

---

1.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था

वे परिवार जिनमें अनेक पीढ़ियों के रक्त संबंधी साथ –साथ रहते है , एक साथ भोजन ग्रहण करते है व सभी सदस्य द्वारा अर्जित आए आपस में सामन्य रूप से विभाजित करते है व सदस्यों की आवश्यकताओ को पूर्ण करते है उसे सयुंक्त परिवार या विस्तुत परिवार कहा जाता है । प्रारम्भ से ही संयुक्त परिवार व्यवस्था, भारतीय समाज की एक विशिष्ट विशेषता रही है लेकिन समय के साथ साथ ये व्यवस्था भी धूमिल होती जा रही है भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है और कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमे अधिक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है इसी आवश्यकता के

कारण भारतीय समाज में संयुक्त परिवार व्यवस्था विकसित हुई और आज भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है

1.4 जाति व्यवस्था

भारतीय समाज कठोर श्रेणीब्रद्ता मैं बधा है। समाज चाहे किसी भी श्रेणी, काल-खण्ड या युग का हो, उसके स्वरूप में असमानता एवम् विभेदीकरण का किसी-न-किसी रूप में पाया जाना एक अनिवार्यता है। सामाजिक विभेदीकरण के अन्तर्गत व्यक्तियों को अनेक वर्गों, भाषा, आयु, सगे-सम्बन्धियों, नातेदारों, लिंग, धर्म, स्थान-विशेष इत्यादि का आधार लेकर अलग किया जाता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का जन्म, शिक्षा, व्यवसाय और आय के आधार पर विभाजन किया जाता है।

जाति-व्यवस्था की स्थापना हमारी भारतीय समाज की आधारभूत विशेषता है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया का मूल आधार जहाँ जाति और वर्ग रहे हैं तो वहीं पश्चिमी देशों में केवल वर्ग। भारत में हिन्दू-समाज प्राचीन समय से ही जाति के आधार पर अनेक श्रेणियों में बँटा रहा है। जाति-व्यवस्था के आने के कारण हमारा समाज समस्तरीय और विषमस्तरीय रूप से अनेक भागों में बँटता चला गया। तुलनात्मक रूप से देखें तो जाति-व्यवस्था के अंतर्गत अनेक श्रेणियों में बँधे समूह वर्ग-व्यवस्था में श्रेणीबद्ध समूहों से कहीं अधिक संख्या में हैं। भारत की वर्तमान सामाजिक संरचना को देखें तो पता चलता है कि, वर्तमान में समाज न केवल जातीय आधार पर बल्कि वर्गीय आधार पर भी स्तरीकृत हो रहा है।

1.5 आध्यात्मिकता

भारतीय समाज की अन्य मुख्य विशेषता धर्म एवं नैतिकता की प्रधानता है धर्म व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलु को नियन्त्रित करता है विश्व के सभी प्रमुख धर्म विधमान है भारत में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक रूपों तथा सम्प्रदायों के रूप में वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, नानक पन्थी, आर्यसमाजी आदि अनेक मतों के मानने वाले अनुयायी मिलते

हैं। इस्लाम धर्म में भी शिया और सुन्नी दो मुख्य सम्प्रदाय मिलते हैं। इसी प्रकार सिक्ख धर्म भी नामधारी और निरंकारी में, जैन धर्म दिगम्बर व श्वेतांबर में और बौद्ध धर्म हीनयान व महायान में विभक्त है। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है सभी जीवो के कल्याण एवं दया में विश्वास, परोपकार, सहानुभूति व सहनशीलता आदि विचारों की प्रधानता भारतीय समाज की एक अन्य विशेषता है भारतीय समाज की एक महत्यपूर्ण विशेषता है भारतीय समाज आध्यात्मिक विचारों में विश्वास रखता है जैसे की पुनर्जन्म , आत्मा, पाप, पुण्य,कर्म , धर्म और मोक्ष भारतीय समाज पर धर्म का बहुत गहरा प्रभाव है चाहे कोई भी समुदाय जैसे हिंदू , मुस्लिम, सिख, किसी भी समुदाय को लिया जाये सभी की प्रमुख सामाजिक संस्थाएं धर्म द्वारा प्रभावित होती है।

1.6 साराशं

इस इकाई में हमने भारतीय समाज की विभिन्न विशेषताओं को स्पष्ट किया है। पहले यह बताया गया है कि भारत में पायी जाने वाली विविधताऐं किन-किन रूपों में विद्यमान हैं, उसके बाद इन सभी विविधताओं के बीच भारतीय समाज में देखी जा सकने वाली एकता की भावना को इन्हीं आधारों पर समझाया गया है। भारत देश में प्राचीन समय से ही अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, स्थानों और प्रजातियों के लोगों का आना-जाना बना रहा। कालान्तर में इनमें से कई जातियाँ, संस्कृतियाँ यहीं रच-बस गईं और धीरे-धीरे यहाँ के वातावरण और संस्कृति में एकाकार होकर एक नई मिली-जुली संस्कृति का रूप ले लिया। आज भारत में जो लोग निवास कर रहे हैं, उनकी अलग-अलग बोलियाँ-भाषाऐं हैं, अलग धर्म-संस्कृति है, अलग नस्ल-प्रजातियाँ हैं और भिन्न मान्यताऐं, रिवाज़, प्रथाऐं,, मत और विश्वास हैं। परन्तु इतनी भिन्नताओं के होने पर भी यह कहा जा सकता है कि, यह सभी एक भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं, एक ही माला के अलग-अलग फूल हैं जो एक ही धागे में पिरोये हुए हैं।भारत इतना विशाल देश है, जिसमे विभिन्न भिन्नता पाई जाती हैं। भारत अपनी विविधता में एकता , जाति व्यवस्था, सयुक्त परिवार व्यवस्था, धर्म व आध्यात्मिकता के लिए विश्व भर में जाना जाता हैं।

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

विविधता - इसका अर्थ सामूहिक अंतर है। समूहों और संस्कृतियों की विविधता ही विभिन्नता है।

जाति - एक वंशानुगत, अंतर्विवाही प्रस्थिति समूह जिसका एक विशिष्ट पारंपरिक पेशा होता है।

एकता - समाज के सदस्यों को आपस में जोड़कर रखने वाली भावना।

प्रजाति - समान आनुवांशिक और जैविकीय विशेषता वाले मनुष्यों का वह वर्ग जो उन्हे दूसरे वर्ग से अलग करता है।

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

i) असत्य

ii) सत्य

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

मुकर्जी ,रविन्द्रनाथ ,1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

हसनैन, नदीम. 2005. समकालीन भारतीय समाजः एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य. भारत बुक सेन्टर. लखनऊ.

महाजन एवं महाजन 1989. सामाजिक संरचना एवं सामाजिक प्रक्रियाएं,शिक्षा सहित्य प्रकाशन ,मेरठ.

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन.(संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेजः ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि ० प्रा ० लि ०, नई दिल्ली।

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. "भारतीय समाज में विविधता में एकता पाई जाती है" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

2. भारतीय समाज की किन्ही दो प्रमुख विशेषताओं की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये।

इकाई 02 - भारतीय समाज के आधारः वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, धर्म एवं कर्म

Bases of Indian Society: Varna System, Ashram System, Dharma & Karma

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 भारतीय समाज के आधार

2.2.1 वर्ण व्यवस्था

2.2.1.1 वर्ण का उत्पत्ति-सम्बन्धित सिद्धान्त

2.2.2 आश्रम व्यवस्था

2.2.3 धर्म

2.2.4 कर्म

2.3 साराशं

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

2.6 संदर्भ ग्रन्थ

2.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

भारत संस्कृति एवं परम्पराओं का देश है। विश्व में आज भी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं की विशिष्ट पहचान है। जबकि रोम, मिश्र तथा बेबीलोनिया की विश्व प्रसिद्ध संस्कृतियाँ इतिहास बनकर रह गयी। भारतीय संस्कृति की इस विशिष्टता का प्रमुख कारक भारतीय समाजिक संगठन है। समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। यह अनेक इकाइयों के सहयोग से बनता है। समाज में पायी जाने वाली प्रत्येक इकाई का समाज में एक निश्चित कार्य होता है। उदाहरणार्थ - जाति प्रथा या संयुक्त परिवार का भारतीय समाज में एक निश्चित स्थान तथा कार्य निर्धारित है। इन निश्चित कार्यों और निश्चित स्थान के आधार पर जाति प्रथा और संयुक्त परिवार किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे से सम्बद्ध होती है और इसके फलस्वरूप उनका एक संगठित व सन्तुलित रूप प्रकट होता है। इसी को सामाजिक संगठन कहते है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक संगठन वह स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न इकाइयाँ अपने-अपने कार्यों के आधार पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाने के फलस्वरूप एक सन्तुलित स्थिति को उत्पन्न करती हैं।

भारतीय सामाजिक संगठन का अर्थ भारतीय समाज में पायी जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो इस समाज की विभिन्न इकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक संगठन उस व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसके अंतर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रस्थापित किया गया है, जैसे वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, धर्म, कर्म, संयुक्त परिवार-व्यवस्था, जाति व्यवस्था इत्यादि। इन उप-व्यवस्थाओं में वर्ण- व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की केन्द्रीय धूरी है क्योंकि इसके द्वारा न केवल समाज को कुछ निश्चित वर्णों में बाँटा गया है। बल्कि सामाजिक व्यवस्था व कल्याण को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य एवं कर्मों को भी निश्चित किया गया है। इस प्रकार जहाँ एक ओर वर्ण-व्यवस्था समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है, वहीं दूसरी ओर आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन को चार स्तरों में बाँटकर और प्रत्येक स्तर पर कर्तव्यों के पालन का निर्देश देकर मानव-जीवन को सुनियोजित किया गया है। इसी प्रकार धर्म एवं कर्म का भारतीय समाज के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका है। ये सभी भारतीय समाज के प्रमुख आधार हैं, और इन सबका सम्मिलित रूप भारतीय सामाजिक संगठन को विशिष्टता प्रदान

करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। इस अध्याय में भारतीय सामाजिक संगठन की प्रमुख आधार या तत्व के रूप में आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, धर्म और कर्म के सिद्धान्त की विवेचना की जायेगी।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज के आधार: वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, धर्म एवं कर्म का विस्तृत अध्ययन किया गया हैं। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज के आधार: वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, धर्म एवं कर्म तथा समाज में उनके महत्व को समझना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप वर्ण व्यवस्था , आश्रम व्यवस्था, धर्म एवं कर्म की अवधारणा को समझ सकेगें तथा कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

2.2 भारतीय सामाजिक संगठन के प्रमुख आधार या तत्व

भारतीय समाज की संस्कृति तथा समाज का आधार अत्यधिक प्राचीन है। अनेकोनेक भारतीय सामाजिक संस्थाओं का विकास वैदिक युग में ही हो गया था। वैदिक युग में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, विवाह, धर्म, कर्म आादि का उद्भव एवं विकास हुआ, अपितु भारतीय समाज को आाधार प्रदान किया। समाज में श्रम विभाजन हेतु चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की रचना की गयी। इसी प्रकार पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर चार आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभाजित किया गया। धर्म और कर्म को भी भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म और कर्म के अनुसार कार्य करने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, धर्म और कर्म भारतीय समाज को न केवल आधार प्रदान करते है अपितु दिशा-निर्देशित भी करते है।

2.2.1 वर्ण व्यवस्था

'वर्ण' वह है जिसको व्यक्ति अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार चुनता है। प्रतिस्पर्द्धा का अभाव हिन्दू संस्कृति का ध्येय है और इसी के एक उपाय-स्वरूप वर्ण-व्यवस्था का विधान है, जिसका तात्पर्य है-सांसारिक सम्पत्ति के लिए अपने वर्ण की अर्थात् पैतृक आजीविका को अपनाकर उससे सन्तुष्ट रहना। इसी वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति को रंग, गुण और कर्म के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया गया है। पर साथ ही इस बात को भी स्वीकार किया गया है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत

प्रत्येक वर्ण के कुछ कर्तव्य-कर्म होते हैं जिसे 'वर्ण-धर्म' कहा जाता है।भारतीय हिन्दू सामाजिक संगठन का एक प्रमुख आधार-स्तम्भ चार वर्ण या वर्ण-व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के सदस्यों को चार वर्णों-ब्राह्मण, छत्रिय, वैश्य और शूद्र-में विभाजित किया गया था और प्रत्येक वर्ण के लिए कुछ नियमों व कर्तव्यों को निर्धारित कर दिया गया था।

वर्ण व्यवस्था का अर्थः-प्रायः 'जाति' और 'वर्ण' इन दोनों संकल्पनाओं को लोग एक ही मान लेते हैं और एक ही अर्थ में इन दोनों का प्रयोग भी करते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा करना उचित नहीं है क्योंकि 'वर्ण' शब्द का अर्थ 'रंग' लगाते हैं। यदि साहित्यिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि 'वर्ण' शब्द वृत्र वरणे या 'वृ' धातु से बना है, इसका अर्थ है वरण करना या चुनना। यह हो सकता है कि इस अर्थ से किसी व्यवसाय या पेशे के चुनाव का तात्पर्य और इस रूप में वर्ण का अर्थ उस समूह से हो सकता है जो एक विशेष प्रकार के पेशे का अपनाता था अथवा समाज द्वारा निर्धारित कुछ निश्चित कार्यों को करता था।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की आधारशिला के रूप में है। यहां आर्थिक आधार के स्थान पर व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव के आधार पर समाज को चार वर्णों(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मे विभाजित किया है। वर्ण सामाजिक विभाजन की वह व्यवस्था है जिसका आधार पेशा, कर्म या गुण है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत उद्देश्य समाज का कार्यात्मक विभाजन करना था। और भी स्पष्ट शब्दों में, प्राचीन समय में सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि समाज के कार्यों का एक सुनियोजित विभाजन किया जाए ताकि व्यक्ति या समूह एक दूसरे के कार्यों में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप न करें। इसी उद्देश्य से कर्मों और गुणों के आधार पर समाज के सदस्यों को चार विभिन्न समूहों में बाँट देने की योजना चालू की गई, उसी को वर्ण-व्यवस्था की संज्ञा दी गई। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक कार्यों व कर्तव्यों के आधार पर समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित करने की व्यवस्था को ही वर्ण-व्यवस्था कहा जाता है।

बोध प्रश्न 1.

i) भारतीय हिन्दू सामाजिक संगठन का एक प्रमुख आधार-स्तम्भ चार वर्ण या वर्ण-व्यवस्था है- सत्य /असत्य ----------

---

ii) वर्ण व्यवस्था से क्या अभिप्राय है? अपना चार पांच पंक्तियों में दीजिए?

2.2.1.1 वर्ण का उत्पत्ति-सम्बन्धित सिद्धान्त

वर्ण की उत्पत्ति किस भाँति हुई, इस सम्बन्ध में अनेक प्रचलित हैं। कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन निम्नलिखित हैं

i). **परम्परागत सिद्धान्त -** वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परम्परागत सिद्धान्त सबसे प्राचीन सिद्धान्त है ऋग्वेद के पुरूसुक्त के अनुसार परमपुरूष अर्थात् ईश्वर ने ही समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है, तथा विभिन्न वर्णों का जन्म उसी परमपुरूष के शरीर के विभिन्न अंगों से हुआ है 'पुरूषसुक्त' में कहा गया है कि ईश्वर ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से होने के कारण उन्हें व्यापार और वाणिज्य का कार्य करना होता है। अन्त में, चूँकि पैर का कार्य पूरे शरीर को गतिशील रखते हुए उसकी सेवा करना है और शूद्रों की उत्पत्ति से हुई है, अतः शूद्र का कार्य सम्पूर्ण समाज की सेवा करना है।

ii). **रंग का सिद्धान्त** - भृगु ऋषि ने वर्णों की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके अनुसार परम-पुरूष अर्थात् ब्रह्मा ने पहले-पहल केवल ब्राह्मणों की ही रचना की थी। लेकिन बाद में

मानव जाति के चार वर्ण- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विकसित हुए। वास्तव में जैसे कि भृगु ऋषि का विचार है। इनका विभाजन शरीर के रंग के आधार पर हुआ। ब्राह्मणों का रंग सफेद(श्वेत), क्षत्रियों का लाल(लोहित), वैश्य का पीला(पीत) तथा शूद्र का काला(श्याम) था। शरीर के इन विभिन्न रंगों के आधार पर ही मानव-समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया।

iii).कर्म का सिद्धान्त-वर्ण-उत्पत्ति को समझाने के लिए कर्म के सिद्धान्त का भी सहारा लिया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वैदिक युग में वर्ण की उत्पत्ति समाज की मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की गयी थी। उस समय समाज की चार आधारभूत आवश्कताएँ (अ) पठन, पाठन, धार्मिक तथा बौद्धिक कार्यों की पूर्ति, (ब) राज्य का संचालन तथा समाज की रक्षा, (स) आर्थिक क्रियाओं की पूर्ति तथा (द) सेवा थीं। समाज-व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए यह आवश्यक था कि समाज को कुछ निश्चित श्रेणियों में बाँटकर लोगों के कार्यों का नियमन व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती। इस उद्देश्य से चार वर्णों की रचना की गयी। चारों वर्णों को उर्पयुक्त चारों कार्य सौंप दिये गये और इन कार्यों को उन वर्णों का धर्म या कर्तव्य माना गया। सभी वर्णों के सदस्यों में यह बात कूट-कूटकर भर दी गई कि कुछ विशेष कार्यों को करना उनका धर्म है और उनका उन्हें पालन करना है। अतः कर्म के सिद्धान्त के अनुसार, समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए धार्मिक कर्तव्य के रूप में कर्मों के विभाजन के फलस्वरूप ही वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई।

वर्णों के कर्तव्य या वर्णधर्म

हिन्दू शास्त्रकारों ने विभिन्न वर्णों के कुछ निश्चित कर्तव्यों या 'धर्म' का भी निर्धारण किया है। शास्त्रों के अनुसार चारों वर्णों के कुछ सर्वसामान्य 'धर्म' या कर्तव्य भी होते हैं, जैसे-जीवित प्राणियों को हानि न पहुँचाना, सत्य की खोज करना, चरित्र एवं जीवन की पवित्रता को बनाये रखना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, आत्म संयम, क्षमा, ईमानदारी, दान आदि सद्गुणों का अभ्यास करना आदि। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के कुछ अलग-अलग कर्तव्य या धर्म भी हैं, इन्हीं को वर्ण-धर्म कहते है।

1.**ब्राह्मण** -'पुरुशसुत्र' में ब्राह्मण को समाज का मस्तिष्क माना गया है। ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करना ब्राह्मण का प्रमुख का प्रमुख कर्तव्य है। वेद पढ़ना तथा पढ़ाना, इन्द्रियों का दमन कर त्याग और तपस्या के द्वारा समाज के सम्मुख उच्चादर्शों को प्रस्तुत करना ब्राह्मण का प्रमुख 'धर्म'

(कर्तव्य) बताया गया है। 'मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मणों का कर्तव्य स्वाध्याय, वृत, होम तथा यज्ञ है। क्षमा, शील, धैर्य तथा निर्मलता ब्राह्मण के प्रधान गुण हैं। वेद-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान का सच्चा अधिकारी होने के कारण ही ब्राह्मण सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ है और मोक्ष का भी प्रथम अधिकारी है।

2.**क्षत्रिय**- 'पुरूषसूक्त' में क्षत्रिय को समाजरूपी मनुष्य की भुजा(हाथ) अर्थात् शक्ति व संरक्षण का प्रतीक माना गया है। जिस प्रकार भुजाएँ शरीर की रक्षा करती हैं उसी प्रकार क्षत्रिय भी समाज की रक्षा करता है। वेदाध्यायन, यज्ञ करना तथा लोगों की रक्षा करना ही क्षत्रियों का कर्तव्य है। शासन तथा सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व क्षत्रियों पर ही होता है। 'मनुस्मृति' के अनुसार भी क्षत्रिय का कार्य प्रजा की रक्षा करना, अध्ययन, दान तथा यज्ञ आदि करना है।

3.**वैश्य**- जिस प्रकार जाँघ का काम सम्पूर्ण शरीर के भार को सँभाले रखना होता है, उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर समाज के अस्तित्व को बनाए रखना ही वैश्यों पर ही रहता है। वेदाध्ययन करना, व्यापार तथा कृषि-कार्य में संलग्न रहना, पशुओं का पालन करना तथा दान देना वैश्य के प्रमुख कर्तव्य हैं। 'मनुस्मृति' के अनुसार वैश्य के कार्य पशुओं का पालना तथा उसकी रक्षा करना, दान, अध्ययन, यज्ञ, वाणिज्य तथा कृषि हैं। वैश्य का कार्य ऋण देना भी है और वे उस ऋण पर ब्याज भी ले सकते हैं।

4.**शूद्र** - शूद्रों की उत्पत्ति ब्रह्मा के चरणों से बतायी गयी है जिन चरणों से गंगा की धारा निकली, जिन चरणों के स्पर्श से अहिल्य तर गयी, उन्हीं चरणों से उत्पन्न होने के कारण शूद्र महान तथा पवित्र हैं। यह समाजरूपी पुरूष का चरण माना गया है। जिस प्रकार चरणों की सहायता से शरीर गतिशील होता है अर्थात् चलता-फिरता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन में गतिशीलता शूद्रों के कारण ही सम्भव होती है। जिस प्रकार चरण सहिष्णुता की साक्षात् मूर्ति है उसी प्रकार शूद्र भी सहिष्णुता व सहनशीलता की प्रतिमूर्ति होता है। अन्य वर्णों की सेवा करना शूद्र का परम 'धर्म' या कर्तव्य है। 'मनुस्मृति' के अनुसार शूद्रों का कार्य द्विज वर्णों(ब्राह्मण, क्षत्रिय, व वैश्य) की सेवा करना है। 'मनुस्मृति' के विधान के अनुसार ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह अपने शूद्र सेवक की जीविका की उचित व्यवस्था करे। यदि किसी शूद्र को अन्य वर्णों के यहाँ कार्य नही मिलता है तो वह हस्त-कौशल से अपनी जीविका का निर्वाह कर सकता है।

वर्ण व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व या भारतीय सामाजिक संगठन में वर्ण व्यवस्था का महत्व-

कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था को अव्यवहारिक तथा समाज में असमानता उत्पन्न करने वाली संस्था कहते हैं। परन्तु वास्तव में उन्होने वर्ण-व्यवस्था के ऊपरी रूप को ही देखा है। भारतीय सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था के निम्नलिखित महत्व का उल्लेख किया जा सकता हैः

1.**समाज में सरल श्रम विभाजन**-वर्ण व्यवस्था समाज में सरल श्रम विभाजन लागू करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वयक्ति को परम्परागत रूप में अपने पिता के पेशे को अपनाना पड़ता है। इसमें व्यक्ति इच्छा और अनिच्छा का कोई प्रश्न नही उठता। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि प्रत्येक वर्ण से यह आशा की जाती है कि वह अपने परम्परागत पेशे को अपनायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था ने समाज में सरल श्रम विभाजन लागू किया है।

2.**सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति**- वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य तत्कालीन समाज की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सुचारू रूप से करना था। उस समय समाज की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ थी-(अ)पठन-पाठन, धार्मिक तथा बौद्धिक कार्यों व आवश्यकताओं की पूर्ति, यह उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर लादा गया (ब) राजनीतिक सुरक्षा तथा सुव्यवस्था का संचालन व नियमन, इस कार्य को शौर्य-वीर्ययुक्त क्षत्रिय को सौंपा गया, (स) आर्थिक सुव्यवस्थाओं की पूर्ति, अर्थात् कृषि-कार्य, अन्य प्रकार के भौतिक उत्पादन-कार्य, पशु-पालन, व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धित कार्यों के लिए वैश्यों को चुना गया, (द) सामाजिक जीवन से सम्बö सेवा-कार्य। सामाजिक जीवन की वास्तविक नींव इन्हीं सेवा कार्यों को करने का उत्तरदायित्व शूद्रों को सौंपा गया। इस रूप से यह स्पष्ट है कि सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था चातुर्य के अन्तर्गत की गयी।

3.**सामाजिक संगठन में दृढ़ता प्रदान करना**- वर्ण-व्यवस्था सामाजिक संगठन को सुदृढ़ता प्रदान करने में भी अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है। वर्ण-धर्म के आधार पर समाज के सभी व्यक्ति पारस्परिक अधिकार तथा कर्तव्य के एक सुदृढ़ सूत्र में एक-दूसरे से संबद्ध हो जाते हैं जो एक अधिकार है, वही दूसरे का कर्तव्य है। साथ ही, बिना अपने कर्तव्यों का पालन किये, कोई भी वयक्ति अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण अपने वर्ण-धर्म का पालन किये बिना, अर्थात् समाज के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास में योगदान दिये बिना, अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता क्योंकि उनके लिए उसे विशेष रूप से वैश्य वर्ण पर आधारित रहना पड़ता है और चूँकि ब्राह्मण यह जानता है कि अन्य वर्णों द्वारा उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायेगी, इस कारण इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने को

चिन्तित किये बिना ही ब्राह्मण अपने वर्ण-धर्म का पालन निष्ठापूर्वक करता रहता है। यही बात दूसरे वर्णों पर भी लागू होती है।

4.**समाज में समानता बनाए रखना**- कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था को समानता के लिए घातक मानते हैं। परन्तु यह उनका भ्रम है। वर्ण-व्यवस्था समाज को चार वर्णों में अवश्य विभाजित करती है परन्तु साथ ही इन चारों वर्णों को आपस में कोई उच्चता या निरन्तरता का स्तर निर्धारित नहीं करती है। इस व्यवस्था के अर्न्तगत सभी वर्णों का महत्व समान है, यद्यपि सबके धर्म, कर्म या कर्तव्य पृथक- पृथक हैं।

5.**रक्त की शुद्धता बनाए रखना**- वर्ण-व्यवस्था का एक महत्व यह भी है कि यह रक्त की शुद्धता को बनाये रखती है। वास्तव में वर्ण-व्यवस्था के अन्य उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी था कि आर्य लोग अपने समूह के रक्त की शुद्धता को बनाए रखें। वास्तव में, प्रत्येक वर्ण में आपस में विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध होते हैं और इस कारण वर्णों में रक्त की शुद्धता बनी रहती है।

2.2.2 आश्रम व्यवस्था

हिन्दू संस्कृति के परम आदर्श के अनुसार जीवन का उद्देश्य केवल जीना ही नहीं, बल्कि इस रूप में जीवनयापन करना है कि इस जीवन के पश्चात् जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाये- परमब्रह्मा या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो। परन्तु इस परमगति की प्राप्ति के पथ पर जीवन की कमियों से उत्पन्न बाधाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन जड़ नहीं, गतिशील है इसलिए यह आवश्यक है कि उस गति को उचित ढंग से इस भांति नियमित किया जाये कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् परमब्रह्मा या मोक्ष की प्राप्ति सरल और सम्भव हो सके। इसके लिए सुविचारित, क्रमबद्ध व व्यवस्थित जीवन व्यवस्था की आवश्यकता है जिससे मनुष्य का जीवन धीरे-धीरे सुनिश्चित रूप में तथा एक स्तर से, दूसरे स्तर को पहुँचता हुआ अन्त में अपने परम प्राप्य और परम पद पर पहुंच सके। यह योजना ही आश्रम-व्यवस्था है, अर्थात् आश्रम-व्यवस्था मानव-जीवन को नियमित व व्यवस्थित करने का वह कार्यक्रम है जो उसके जीवन को चार भागों में इस प्रकार विभाजित करता है कि पहले वह ज्ञान की प्राप्ति करे, फिर संसार के सुख-दुःख को भोगे, तदनन्तर सांसारिक झंझटों से अपने को दूर रखकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करे तथा अन्त में उसी परम सत्य की खोज में अपना सब कुछ समर्पित कर उसी में एकाकार हो जाने के लिए प्रयत्नशील हो।

i) आश्रम का अर्थ एवं परिभाषा-

'आश्रम' शब्द संस्कृत के 'श्रमुतपसि' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास करना या परिश्रम करना। श्री पी0 एन0 प्रभु ने आश्रम का अर्थ बताते हुए कहा है, ''आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा की जाने वाली जीवन-यात्रा के मध्य के विश्राम-स्थल मानना चाहिए।''

वैदिक आर्यों ने मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की चार अवस्थाएँ अथवा आश्रम माने हैं ये अवस्थाएँ (1)बाल्यावस्था, (2)यौवनावस्था, (3)प्रौढ़ावस्था, (4)वृद्धावस्था हैं। अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य आगे बढ़ने के लिए स्वयं को समर्थ बनाता है। मनुष्य की औसत आयु 100 वर्ष मानकर इन चारों अवस्थाओं में से प्रत्येक की अवधि 25-25 वर्ष नियत की गयी है। इस प्रकार,'आश्रम' मानव-जीवन की एक विशिष्ट अवस्था का बोध कराता है-इस अवस्था में व्यक्ति एक निश्चित अवधि के दौरान जीवन के कतिपय आदर्शों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जी-तोड़ 'श्रम' अथवा 'यत्न' करता है।

ii) आश्रम-व्यवस्था का अभिप्राय-

वास्तव में आश्रम-व्यवस्था प्राचीन आर्यों की वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत जीवन को चार भागों या अवस्थाओं में विभक्त कर दिया गया। इन चारों अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था को 'आश्रम' में प्रवेश करने के लिए अपनी नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का विकास करता है ताकि अगले आश्रम में अर्न्तनिहित नये उत्तरदायित्व की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो। इस प्रकार, पी0 एन0 प्रभु के अनुसार, ''आश्रम व्यवस्था मानव जीवन को नियोजित व नियन्त्रित करने की वह परियोजना है जिसके द्वारा मनुष्य को ज्ञान या शिक्षा तथा गृहस्थ जीवन के सुख व सुविधाओं से वंचित न करते हुए मोक्ष के पथ पर ले जाना सरल व सम्भव हो।

चार आश्रम-

1. **ब्रह्मचर्याश्रम**- ब्रह्मचर्याश्रम जीवन की प्रथम अवस्था का द्योतक है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- 'ब्रह्म' तथा 'चर्य'। 'ब्रह्म' अर्थ है महान तथा 'चर्य' का अर्थ है विचरण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ ऐसे मार्ग पर चलना जिससे मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हो सके। कुछ लोग 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ केवल लैंगिक संयम समझते हैं,

परन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का सिर्फ एक पहलू है। वास्तव में ब्रह्मचर्य क्षुद्रता से महत्ता की ओर या साधारण से महान् होने की साधना या प्रयत्न है।

उपनयन (जनेऊ) संस्कार के उपरान्त बालक जीवन के प्रथम आश्रम- ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता है। उपनयन संस्कार विभिन्न वर्णों में अलग-अलग आयु में करने का निर्देश है, जैसे-ब्राह्मणों का उपनयन संस्कार आठ से दस वर्ष की आयु में, क्षत्रियों का दस से चौदह वर्ष की आयु में और वैश्यों का बारह से सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। उपनयन संस्कार के बाद बालक को विद्याध्ययन हेतु गुरूकुल में जाकर रहना पड़ता है। शूद्रों को गुरूकुल में जाने की आज्ञा नहीं है। गुरूकुल में रहने का अधिकारी वह तब होता है जब गुरू के द्वारा उसका दीक्षा संस्कार कर दिया जाता है। और गुरू उसे अपने शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में वह तब तक रहता है जब तक कि वह 25 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता। गुरूकुल या गुरू के आश्रम में ब्रह्मचारी को अत्यनत सरल, पवित्र तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करना पड़ता है और एकाग्र मन से ज्ञानार्जन में जुटा रहना पड़ता है। इस अवस्था में ब्रह्मचारी धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने को ऋषि-ऋण से मुक्त करता है और अपनी परमपरा व संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है।

2. **गृहस्थाश्रम**- ब्रह्मचर्याश्रम में आवश्यक तैयारी करने के पश्चात् मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का निर्देश है। शास्त्रकारों की दृष्टि में यह आश्रम सभी आश्रमों से अधिक महत्वपूर्ण तथा अन्य सभी आश्रमों का आधार है। गृहस्थाश्रम का आरम्भ विवाह-संस्कार के साथ होता है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए व्यक्ति अपने जीवने के अनेक ऋणों को चुकाने का प्रयत्न करता है। जिन पाँच यज्ञों(ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ) को करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक माना गया है उनमें से अन्तिम चार यज्ञों का पालन गृहस्थाश्रम में ही किया जाता है क्योंकि इन यज्ञों जानवर, पशु-पक्षी, अपाहिज मनुष्यों तथा अतिथियों को भोजन कराया जाता है और इस कार्य में पत्नी की सहायता आवश्यक है।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थ को अन्य अनेक प्रकार के कार्यों को भी करना पड़ता है और उनमें से सबसे प्रमुख कार्य गृहस्थ पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का पालन-पोषण करना है। माता-पिता, गुरू, पत्नी, सन्तान, शरण में आये हुए असहाय व्यक्ति, अतिथि आदि का भरण-पोषण करना प्रत्येक गृहस्थ का पवित्र कर्तव्य है। इस कर्तव्य को न निभाने पर व्यक्ति को नरक में जाना पड़ता है।

3.वानप्रस्थाश्रम- पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। अर्थ (धन सम्बन्धी) तथा काम (वैवाहिक सुख) की इच्छा की पूर्ति करने के बाद घर या परिवार को त्यागकर वनों या पर्वतों की शरण में जाकर अपनी स्त्री के साथ या बिना स्त्री के किसी कुटिया में सादा जीवन व्यतीत करना तथा वेदों और उपनिषदों का अध्ययन करना वानप्रस्थी का कर्तव्य होता है। इस आश्रम में व्यक्ति यज्ञों का आयोजन करके अपने को देव-ऋण से मुक्त करता है। वास्तव में वयक्ति इस आश्रम में ही इहलोक की सभी इच्छाओं, कामनाओं तथा लोभ से अपने को अलग करने, परलोक को सुधारने तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए रास्ता तैयार करने के लिए संयमी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर देता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जब मनुष्य यह देखें कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल या ढीली पड़ गयी है, बाल पक गये हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गये हैं तब वह विषयों (सांसारिक सुखों) से रहित होकर वन का आश्रय ले, वहीं पर वह अपने को मोक्ष-प्राप्ति के लिए तैयार कर सकता है। इस आश्रम में वयक्ति को अत्यन्त संयम से रहना चाहिए। मनु के अनुसार वानप्रस्थी को वेदाभ्यासी, शीत-धूप को सहन करने वाला, उपकार व सेवा की भावना से पूर्ण, ज्ञान को वितरित करने वाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से विमुक्त तथा प्राणियों पर दया करने वाला होना चाहिए। वानप्रस्थी को अपने तप की वृद्धि के लिए आवश्यक प्रयास करना चाहिए, उसमें कष्ट सहने की शक्ति भी अधिक होनी चाहिए। इसके लिए ग्रीष्म ऋतु में आग जलाकर बैठना चाहिए,गर्मी में तेज धूप में, वर्षा ऋतु में खुले आकाश के नीचे खड़ा रहना चाहिए। संक्षेप में, उसे इस प्रकार के सभी प्रयत्नों को करना चाहिए जिससे तप आध्यात्मिक शक्ति का उसमें निरन्तर विकास होता रहे और उसके लिए मोक्ष का पथ प्रशस्त हो या खुल जाये।

4.**सन्याश्रम**- 75 वर्ष की आयु तक वानप्रस्थाश्रम में निवास करने के पश्चात् मनुष्य को अंतिम रूप में सन्यासाश्रम में प्रवेश करने का निर्देश है। इस आश्रम में वह एकाकी व परिवा्रजक (साधु) का जीवन व्यतीत करता है और सब कुछ त्याग देता है। इसी अवस्था में व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति करने के लिए चरम प्रयास करता है और उसके लिए उसे सभी प्रकार के लोभ, काम और इच्छओं से दूर रहना पड़ता है। सन्यासी के दस कर्तव्य होते हैं-भिक्षा से भोजन चलाना, चोरी न करना, बाह्य तथा भीतरी पवित्रता बनाये रखना, लालची न होना, क्रोध न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दया करना, प्राणियों के साथ क्षमाशील होना, क्रोध न करना, गुरू की सेवा करना और सत्य बोलना। संक्षेप में

इस आश्रम में व्यक्ति के सभी सांसारिक बंधन छूट जाते हैं और वह एकाग्रचित होकर मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता है।

आश्रम व्यवस्था का सामाजिक या समाजशास्त्रीय महत्व- जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, आश्रम-व्यवस्था प्राचीन आर्यों की सुविचारित योजना भी जिसमें मानव के सम्पूर्ण जीवन को वैज्ञानिक ढंग से नियमित करने व संचालित करने का प्रयत्न किया गया था। वास्तव में जीवन को समुचित रूप से व्यवस्थित करने के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि असीम बुद्धि व शक्ति केा अनुभवी हाथो द्वारा यथोचित ज्ञान प्रदान करके उचित दिशा में मोड़ा जाये, प्रौढ़ की घटती हुई शक्ति को समय के कठोर बन्धनों से रोककर उसके अनुभवों का समाज को यथेष्ट लाभ दिलाया जाये और वृद्ध के जर्जर शरीर में आत्मशक्ति को वह स्त्रोत प्रस्फुटित किया जाये जिसमें घुलमिलकर समस्त मानव-जीवन शान्ति का अनुभव कर सके। भारतीय समाजदृष्टाओं ने जीवन की इन्हीं अनिवार्य आवश्यकताओं की वैज्ञानिक पूर्ति के लिए आश्रम व्यवस्था की योजना बनायी थी।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी आश्रम-व्यवस्था का कुछ कम महत्व नहीं है। वास्तव में यह व्यवस्था परमार्थ की व्यवस्था है। अर्थात् इसमें व्यक्ति को दूसरों के हितों को अधिक महत्व देने का निर्देश दिया गया है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के साथ ही व्यक्ति दूसरों के लिए जीना सीखता है दूसरों को खिलाकर तब कहीं खुद खाता है। उसके भोजन में केवल उसके परिवार के लोगों का ही हिस्सा नहीं है, बल्कि अतिथि, पथिक, रोगी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, तक का हिस्सा है। पंच महायज्ञ को प्रत्येक गृहस्थी का प्रधान एवं आवश्यक कर्तव्य समझा जाना इसी बात का द्योतक है। वानप्रस्थाश्रम परमार्थता (दूसरों की भलाई) की उच्चतर अवस्था है। इस आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति पंच महायज्ञों को तो करता ही है, साथ ही उपदेश और अध्यापन के माध्यम से संचित अनुभव द्वारा समाज की सेवा करता है। उसकी कुटिया 'गुरूकुल' होती है जहाँ समाज की भावी पीढ़ी के व्यक्तित्व व चरित्र-निर्माण का सम्पूर्ण दायित्व वानप्रस्थी अपने ऊपर लेता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस सेवा का महत्व पृथक रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वानप्रस्थी गृहस्थ के लिए निर्देशक का काम करता है। वानप्रस्थी के परामर्श व अनुभव से लाभ उठाकर गृहस्थ लोग अपनी जटिल समस्याओं को हल कर सकते हैं। अन्त में वानप्रस्थी सन्यासाश्रम में प्रवेश करता है, केवल अपने मोक्ष के लिए नहीं अपितु संसार के सभी लोगों को मोक्ष दिलाने के लिए।

2.2.3 धर्म

भारतीय सामाजिक संगठन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही है, कि इसमें जीवन के अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा न करते हुए धार्मिक जीवन की प्रधानता रही है। वस्तुतः प्राचीन काल में भारतीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रबल्य था और आज भी इन सभी पर उसकी स्पष्ट छाप देखने को मिलती है।

(i) धर्म का अर्थ - धर्म के अर्थ को ''रिलिजन'' शब्द के अनुवाद के रूप में नहीं समझा जा सकता। धर्म एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। धर्म उस मौलिक शक्ति के रूप में जाना जा सकता है जो भौतिक और आध्यात्मिक अवस्था का आधार रूप है जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक है।

- **गिलिन और गिलिन**, ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''एक सामाजिक समूह में व्याप्त उनके संवेगात्मक विश्वासों को जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित हैं और साथ ही ऐसे विश्वासों से सम्बन्धित प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एवं प्रतीकों को धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र में सम्मिलित माना जा सकता है।''
- **फ्रेजर** के अनुसार, ''धर्म मनुष्य से उच्चतर शक्तियों में विश्वास और उन्हें शांत या प्रसन्न करने की कोशिश है।''
- **दुर्खीम** के अनुसार, ''धर्म पवित्र चीजों से जुड़े हुए विश्वासों और कर्मकांडों की एक संगठित व्यवस्था है अर्थात् ऐसी चीजें जो अलग हैं और जिन्हें करने की मनाही है, विश्वास और कर्मकांड एक अखंड नैतिक समुदाय में अपने सभी मानने वालों को संगठित करते हैं।''

'रिलीजन' शब्द के अन्तर्गत अलौकिक विश्वास एवं अधिप्राकृतिक शक्तियाँ आती हैं, परन्तु हिन्दू धर्म का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के कर्तव्य-बोध से है। हिन्दू धर्म एक ज्ञान है जो अलग-अलग परिस्थितियों में व्यक्तियों के विभिन्न कर्तव्यों को बतलाता है, उन्हें कर्तव्य पथ पर चलते रहने की प्रेरणा प्रदान करता है।

(ii) धर्म के मौलिक लक्षण या विशेषताएँ

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर धर्म के निम्नलिखित मौलिक लक्षणों या विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

1. किसी सर्वश्रेष्ठ अलौकिक शक्ति पर विश्वास।

2. इस शक्ति पर विश्वास के साथ-साथ उस शक्ति के प्रति श्रृद्धा, भक्ति एवं प्रेम की भावना।

3. पवित्रता की धारणा धर्म की एक अन्य विशेषता है।

4. प्रार्थना, पूजा या आराधना भी धर्म की एक मौलिक विशेषता है।

5. धार्मिक क्रियाओं में अलग-2 धर्मों में अलग-अलग धार्मिक सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश रहता है।

(iii) धर्म का उद्भव या धर्म की उत्पति के सिद्धान्त - यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जो स्वाभाविक रूप से उठता है कि आखिर धर्म का जन्म एक संस्था के रूप में कैसे हुआ। प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम यहाँ धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद का सिद्धान्त - मैक्समूलर धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकृतिवाद के समर्थक है इनका कहना था कि समाज में धर्म की उत्पत्ति का मौलिक कारण प्राकृतिक परिस्थितियाँ है जिनसे ऊबकर मनुष्य ने उसके सामने नतमस्तक होकर उनकी पूजा शुरू कर दी, जिसके कारण वहीं पूजा धर्म के रूप में विकसित हो गई। इसके दो प्रमुख कारण हैं-

1. मनुष्य का प्राकृतिक परिस्थितियों से घिरा होना व उनका प्रभाव।

2. मनुष्य में ज्ञान का अभाव या उसी के अनुरूप चिंतन-प्रक्रिया का निर्माण।

आदिम समाजों में इसी कारण टोटम की व्यवस्था पायी जाती है। जिसे जनजाति के लोग अपना ईश्वर समझते हैं।

टायलर एवं स्पेन्सर का आत्मावाद का सिद्धान्त - टायलर के अनुसार धर्म की उत्पति आत्मा पर विश्वास एवं उसके भय के कारण हुई है इनका कहना है कि धर्म का आधार बिन्दु आत्मा पर विश्वास करना है। आदिम मनुष्यों में यह विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा अजर-अमर है, मृत्यु के

बाद भी इसका अस्तित्व बना रहता है, जो मनुष्य को प्रभावित करती है। इस प्रकार आदिम मनुष्यों ने धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण 'आत्मा पर विश्वास' माना है।

मैरेट एवं प्रीअस का जीवित सत्तावाद - इस सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति का कारण 'आत्मा' नहीं वरन् 'माना' है। 'माना' एक प्रकार की ऐसी शक्ति है जो सर्वोच्च है तथा जो व्यक्ति एवं समाज को प्रभावित करती है। अगर 'माना' खुश है तो मनुष्य का कल्याण है, लेकिन अगर वह नाराज हो गयी तो मनुष्य को नुकसान पहुँचाती है। इसलिए 'माना' को खुश रखना चाहिए, जिसके कारण उस माना की पूजा, आराधना इत्यादि से धर्म का विकास हुआ।

दुर्खीम का सामाजिक सिद्धान्त - धर्म की उत्पत्ति के कारणों की खोज दुर्खीम ने समाज के भीतर ही की है। टोटम सामूहिक प्रतिनिधित्व, पवित्रता एवं नैतिकता की धारणा की वजह से समाज में धर्म का विकास हुआ है। दुर्खीम का कहना है कि समूह जिसे पवित्र मानता है उसकी रक्षा करता है तथा अपवित्र वस्तुओं से दूर रहने का प्रयास करता है। इस प्रकार समाज में नैतिक वातावरण का निर्माण होता है, जिससे धर्म का विकास हआ।

फ्रेजर का सिद्धान्त - फ्रेजर का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति जादू-टोना से हुई है अर्थात् धर्म की प्रारम्भिक अवस्था जादू-टोना है। आदिम मनुष्यों ने पहले पहल जादू मंत्र इत्यादि के आधार पर उन प्राकृतिक वस्तुओं को अपने वश में करना चाहा। लेकिन बाद में जब वह उन पर नियन्त्रण न कर सका तो आत्म समर्पण कर उसकी अधीनता स्वीकार की तथा पूजा, आराधना, प्रार्थना इत्यादि के आधार पर उनको खुश करना चाहा, तभी से धर्म की उत्पत्ति हुई।

(iv) धर्म का समाजशास्त्रीय महत्व- यद्यपि मानव ने स्वयं ही धर्म की उत्पत्ति की है, परन्तु वह स्वयं इससे नियन्त्रित भी होता है। धर्म समाज का आधार होता है। क्योंकि धर्म समाज के उच्चतम आदर्शों तथा मूल्यों को अपने अन्दर समेटकर उनकी रक्षा करता है तथा मानव में सद्गुणों का विकास करता है। धर्म अपने सदस्यों के व्यवहार पर अंकुश रखकर समाज में नियन्त्रण बनाये रखता है। धम्र केवल समाज को संगठित नहीं करता अपितु व्यक्तित्व के विकास में भी सहायक होता है। धर्म भावनात्मक सुरक्षा, सामाजिक एकता में सहायक, आर्थिक विकास में सहायक, पवित्रता की भावना को जन्म तथा कर्तव्यों का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार से हम कह सकत हैं भारतीय समाज में धर्म अतिआवश्यक व महत्वपूर्ण संस्था है परन्तु धर्म के कुछ नकारात्मक प्रभाव भी समाज में होते

हैं। उदाहरणस्वरूप, धर्म के कारा ही समाज में धार्मिक दंगें या साम्प्रदायिक दंगे भी होते हैं। जिससे समाज में संगठन व व्यवस्था को काफी नुकसान भी होता है।

2.2.4 कर्म

भारतीय सामाजिक संगठन की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता या आधार कर्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-जीवन का सबसे प्रमुख उद्देश्य 'कर्म' (कार्य) करना है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य को अपने भाग्य पर भरोसा रखकर अकर्मण्य नहीं हो जाना चाहिए। साथ ही, मनुष्य का भाग्य भी उसके 'कर्मो' के सन्दर्भ में ही निर्मित होता है।

कर्म का अर्थ - कर्म शब्द की व्युत्पति 'कृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'करना', 'व्यापार' या 'हलचल'। इस अर्थ की दृष्टि से मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब 'कर्म' के अन्तर्गत आता है, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, चलना, विचार या इच्छा करना, आदि सब कार्य गीता के अनुसार 'कर्म' की श्रेणी में आते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य 'कर्म' है।

कर्म के प्रकार- कर्म तीन प्रकार के होते हैं-(1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म (3) क्रियमाण या संचीयमान कर्म। संचित कर्म के अन्तर्गत वे कर्म आते हैं जो व्यक्तियों द्वारा पूर्व जन्म में किये गये हैं। इन पूर्व कर्मों में से जिन कर्मों का फल व्यक्ति को वर्तमान जीवन में भोगना पड़ता है, उन्हें 'प्रारब्ध कर्म' कहा जाता है। व्यक्ति द्वारा इस जीवन में किया जा रहा कर्म 'क्रियमाण कर्म' कहा जाता है। व्यक्ति का आगामी जीवन संचित और क्रियमाण कर्म पर निर्भर करता है। कर्म तो पुनर्जन्म के सम्पूर्ण चक्र से सम्बन्धित है।

कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त - कर्म और पुनर्जन्म दो पृथक् सिद्धान्त नहीं होकर एक ही सिद्धान्त है तथा इनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध पाया जाता है। वेदों में स्पष्टतः कहा गया है कि आत्मा अमर है, परन्तु शरीर नाशवान है। व्यक्ति का उस समय तक पुनः जन्म होता रहता है, जब तक कि वह अमरत्व को प्राप्त नहीं कर ले, अपने को ब्रह्म में विलीन नहीं कर ले। उपनिषदों में सर्वप्रथम कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणाओं को एक सिद्धान्त का रूप दिया गया। उपनिषदों में वर्णित कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति जो कुछ है, जो कुछ उसकी अच्छी या बुरी परिस्थितियाँ हैं, उसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। सामाजिक शक्तियों के स्थान पर उसके स्वयं के कर्म उसकी उस दशा के लिए उत्तरदायी हैं।

कर्म और भाग्य - भारत में कर्म-सिद्धान्त भाग्यवाद का आधार रहा है। पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति को एक ओर इस जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मानकर भाग्य पर सन्तोष करने की प्रेरणा मिलती है, वहीं दूसरी ओर इससे व्यक्ति की क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है और वह विरक्ति की ओर उन्मुख होता है।

कर्म सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्व - कर्म सिद्धान्त निरन्तर कर्म करते रहने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहा है। यह सिद्धान्त स्वधर्म की धारणा और इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति का वर्तमान जीवन संयोग का फल नहीं है, बल्कि उसी के पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम है। इस सिद्धान्त का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन धर्म भी इसके समर्थक हैं, यद्यपि हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के ये कटु आलोचक हैं। कर्म के सिद्धान्त ने नैतिकता के विकास में योग दिया है। कर्म के सिद्धान्त ने व्यक्तियों को मानसिक सन्तोष तथा कर्तव्य पथ पर सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की है। कर्म के सिद्धान्त से ही समाज में संघर्षों को कम करने, सामाजिक नियन्त्रण तथा सामाजिक व्यवस्था को संगठित रखने समाज कल्याण जैसी संकल्पनाऐं सफल रही हैं। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को, स्वयं को अपने भाग्य का निर्माता मानता है। कर्म का भारतीय सामाजिक संगठन में इतना महत्व होने के बाद भी इसके कुछ दुष्परिणाम भी रहे हैं। क्योंकि कर्म का भाग्यवादी होने के कारण कुछ लोग भाग्य को ही अपने जीवन का आधार मान लेते हैं। वे सोचते हैं कि पिछले जन्म में हमने जो भी कार्य किये होंगे उन्हीं का फल हमें मिलेगा।

2.3 सारांश

भारत संस्कृति एवं परम्पराओं का देश है। विश्व में आज भी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं की विशिष्ट पहचान है। भारतीय संस्कृति की इस विशिष्टता का प्रमुख कारक भारतीय समाजिक संगठन है। भारतीय सामाजिक संगठन का अर्थ भारतीय समाज में पायी जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो इस समाज की विभिन्न इकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक संगठन उस व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसके अंतर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रस्थापित किया गया है, जैसे वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, धर्म, कर्म, संयुक्त परिवार-व्यवस्था, जाति व्यवस्था इत्यादि। इन उपव्यवस्थाओं में वर्ण- व्यवस्था

भारतीय सामाजिक संगठन की केन्द्रीय धूरी है क्योंकि इसके द्वारा न केवल समाज को कुछ निश्चित वर्णों में बाँटा गया है। बल्कि सामाजिक व्यवस्था व कल्याण को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य एवं कर्मों को भी निश्चित किया गया है। इस प्रकार जहाँ एक ओर वर्ण-व्यवस्था समाज में सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है, वहीं दूसरी ओर आश्रम-व्यवस्था द्वारा जीवन को चार स्तरों में बाँटकर और प्रत्येक स्तर पर कर्तव्यों के पालन का निर्देश देकर मानव-जीवन को सुनियोजित किया गया है। इसी प्रकार धर्म एवं कर्म का भारतीय समाज के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका है। ये सभी भारतीय समाज के प्रमुख आधार हैं, और इन सबका सम्मिलित रूप भारतीय सामाजिक संगठन को विशिष्टता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका है।

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

वर्ण - कर्म के आधार पर व्यवसाय चुनना।

मोक्ष - जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ, जिससे सांसारिक जीवन से मुक्ति प्राप्त होती है।

उपनयन - ब्रह्मचर्य को ग्रहण करने वाला संस्कार।

कर्म - मनुष्य द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य।

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

i) सत्य

ii) इस प्रश्न के उत्तर के लिए 2.3.1 देखे

2.6 संदर्भ गंर्थ

पी0 एच0 प्रभु: हिन्दु समाज की व्यवस्था

राम अहूजा: भारतीय समाज

राधाकृष्णन: धर्म और समाज

राधाकमल मुखर्जी: भारतीय समाज विन्यास

2.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन.(संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेजः ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि ० प्रा ० लि ०, नई दिल्ली।

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. कर्म के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख संस्कारों का उल्लेख कीजिए।
3. आश्रम व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।
4. हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में धर्म के महत्व की विवेचना कीजिए।

इकाई 3- पुरूषार्थ और संस्कार

Purushastra & Sanskar

इकाई की रूपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 पुरूषार्थ का अर्थ

3.3 पुरूषार्थ के प्रकार

3.3.1 धर्म

3.3.2 अर्थ

3.3.3 काम

3.3.4 मोक्ष

3.4 पुरूषार्थ का महत्व

3.5 संस्कार का अर्थ

3.5.1 संस्कार के भेद

3.6 संस्कार का महत्व

3.7 सारांश

3.8 परिभाषिक शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज में अध्यात्मवाद को जितना अधिक महत्त्व दिया गया है उतना ही महत्त्व इस बात को भी दिया गया है कि, सांसारिक कर्त्तव्यों को इस प्रकार पूरा करें कि,मानव को जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति भी हो और उसके जीवन में भी सन्तुलन स्थापित हो सके। पुरूषार्थ में मानवीय गुणों का इस तरीके से समन्वय होता है कि, वह भौतिक सुख-सुविधाओं और आध्यात्मिक उन्नति के बीच में एक विशेष सन्तुलन को बनाने में सहायक होता है। शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा की सन्तुष्टि के लिए मानव जो प्रयत्न करता है वही पुरूषार्थ कहलाता है। मानव-जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य हैं जोकि, पुरूषार्थ के चार आधारों के रूप में प्रचलित हैं वे हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष मानव-जीवन का चरम् लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने में अर्थ, काम और मोक्ष का सहयोग आवश्यक होता है। क्योंकि, मोक्ष पाने के लिए यह आवश्यक है कि, पहले व्यक्ति का मन सांसारिक सुखों से इतना तृप्त हो जाए, भर जाए कि, वह इनसे विरक्त होकर ईश्वर के ध्यान-चिन्तन में अपना मन रमा सके, जीवन के सार-तत्त्व को समझकर निष्काम कर्म करते हुए अपने को परमात्मा के चरणों में पूरी तरह से अर्पित कर सके और जीवन-भरण के इस आवागमन चक्र से छूट सके। अतः जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु भारतीय परम्परा में 'पुरूषार्थ' को बहुत महत्त्व दिया गया है। जिस मानव-जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरूषार्थों का समन्वय सन्तुलित रूप में है, वही पुरूषार्थ का प्रतीक है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्धयन के बाद आप;

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संकल्पनाओं पर चर्चा कर सकेंगे ;

हिन्दुओं में जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु तक चलने वाले संस्कारों पर सकेंगे;

जीवन में पुरूषार्थ तथा संस्कार के महत्त्व पर चर्चा कर सकेंगे।

3.2 पुरूषार्थ का अर्थ

पुरूषार्थ का अभिप्राय उद्योग करने या किसी तरह का प्रयास करने से है। पुरूषार्थ के अर्थ को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि, 'पुरूषार्थ' इसका अर्थ है कि, अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए

प्रयत्न करना ही पुरूषार्थ है। पुरूषार्थ को एक ऐसी योजना कहा गया है जो व्यक्ति के सभी कर्त्तव्यों और दायित्वों को तीन भागों में विभाजित करती है जिन्हें धर्म, अर्थ और काम कहा गया है। इन तीनों पुरूषार्थों का अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है और वह है मोक्ष की प्राप्ति।

डॉ0 राधाकमल मुखर्जी ने इस सन्दर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि, "वर्णों और आश्रमों के धर्मां और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरूषार्थो के आंकलन पर निर्भर करती है। भारतीय दृष्टि से जीवन के मूल्यों को चार पुरूषार्था में बाट दिया गया है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य- अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के अधीन रखा गया है। इसमें मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है, उसी में जीवन के सर्वोच्च और शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों-धर्म, अर्थ ,काम और मोक्ष का समन्वय होता है।" इस रूप में पुरूषार्थ मानव-जीवन के एक सम्पूर्ण और सार्थक स्वरूप को प्रकट करता है।

3.3 पुरूषार्थ के प्रकार

जीवन के चार वह प्रमुख लक्ष्य जिनको प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। यही 'पुरूषार्थ' कहे गये हैं। पुरूषार्थ के इन चारों तत्त्वों को अधिक स्पष्टता से समझने के लिये अब हम इनकी विवेचना यहाँ पर करेंगे जो कि, पुरूषार्थ की अवधारणा को और स्पष्ट करने में सहायक होगा-

3.3.1 धर्म

उपरोक्त चारों पुरूषार्थों में धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका मतलब है वह जो किसी वस्तु को धारण करे या उस वस्तु का अस्तित्व बनाए रखने में सक्षम हो। अतः धर्म को किसी भी वस्तु का वह मूल्य-तत्त्व कहा जाता है जो उस वस्तु की यथार्थता को समझने का माध्यम बनती है, और साथ-ही-साथ उस वस्तु के अस्तित्त्व को भी बनाए रखती है। धर्म को कई लोगों और समाजों में अदृश्य, अलौकिक, अतिमानवीय और अतीन्द्रिय शक्तियों पर विश्वास करना भी माना जाता है। परन्तु हिन्दू धर्म में 'धर्म' शब्द को इस अर्थ से अलग अर्थ में प्रयोग किया गया है। भारतीय धर्मशास्त्रों और गंरथों में हमारे विचारकों ने व्यक्ति के द्वारा सभी कर्त्तव्यों को विभिन्न परिस्थितियों में पूरा करने को ही 'धर्म' कहा है। यह इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि, धर्म का अर्थ नैतिक कर्त्तव्य, स्वभाव, करने योग्य कार्य, वस्तुओं के आतंरिक गुण, पवित्रता,

आचरण का एक प्रतिमान, व्यवहार के तरीके आदि से लिया गया है। जैसे यदि गुरू का धर्म, गुरू का शिष्य के प्रति क्या कर्त्तव्य है और बेटे का धर्म बेटे का पिता के प्रति क्या दायित्व है ,उससे इसे समझा जा सकता है। धर्म के स्थान पर पवित्र शब्द का भी कभी-कभी प्रयोग कर लिया जाता है, इसका कारण यह है कि पवित्रता आचरण की शुद्धता से सम्बन्ध रखती है इसीलिए धर्म के एक अर्थ को प्रकट भी करती है।

नैतिक कर्त्तव्यों की ओर संकेत करने वाला 'धर्म' मानव के नैतिक जीवन को और मूल्यों को एक व्यवस्था में बांधता है, अतः धर्म को नैतिक दायित्वों के रूप में प्रयोग किया गया है। मनु-स्मृति में धर्म के दस लक्षणों को इस प्रकार बताया है कि, धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय, निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध पर नियंत्रण यह धर्म के दस मुख्य लक्षण हैं। धर्म का अर्थ पुण्य और नैतिक-व्यवस्था के रूप में भी लिया गया है। ऐसी मान्यता प्रचलित रही है कि, व्यक्ति जो भी पुण्य-कर्म करता है वह उसकी मृत्यु के बाद भी उसका साथ देते हैं, उसके साथ ही रहते हैं। धर्म एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति के अन्दर अच्छे और बुरे के विवेक को जाग्रत कर उसे यह बतलाती है कि, अच्छे काम का फल अच्छा और बुरे काम का फल भी बुरा ही होता है और सभी व्यक्ति जैसे भी कर्म करते हैं, अच्छे या बुरे, उन्हें सभी कर्मो का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है, उससे बचना असम्भव है।

यह सभी जानते हैं कि, समाज में सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसी परिस्थितियाँ नहीं होती हैं, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में कई प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जो अन्य व्यक्तियों से अलग हो सकती हैं। ऐसी भिन्न परिस्थितियों में उन व्यक्तियों के लिए धर्म या कर्त्तव्य भी एक ही तरीके से परिभाषित नहीं किये जा सकते हैं। इसी को समझते हुए धर्म के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया गया है -

1. सामान्य धर्म
2. विशिष्ट धर्म
3. आपद्धर्म

1-सामान्य धर्म - सामान्य धर्म को मानव-धर्म भी कहा जाता है। वह सभी नैतिक नियम इसके अन्तर्गत आते हैं, जिनके अनुसार आचरण या व्यवहार करना ही प्रत्येक व्यक्ति का परम् कर्त्तव्य

माना गया है। धर्म का यह स्वरूप सभी मनुष्यों में मानवीय-मूल्यों, सद्गुणों का विकास और उनकी श्रेष्ठता को जागृत करने का उद्देश्य लिये है। सम्पूर्ण मानव-जाति चाहे वह वृद्ध हो या बालक, स्त्री हो या पुरूष, गरीब हो या अमीर, राजा हो या प्रजा, गोरा हो या काला, सभी के द्वारा सामान्य धर्म का पालन करने को एक जरूरी कर्त्तव्य कहा गया है। इसका कारण यह है कि इस धर्म में वह सभी गुण सम्मिलित हैं जो सभी व्यक्तियों को विकास करने में सहायता प्रदान करते हैं। अहिंसा, सच्चाई, आत्म-संयम, सन्तोष, दया, सहानुभूति, क्षमा, दैनिक जीवन में सदाचार, सृष्टि और प्राणि-मात्र के लिए उदारता, सत्कार्य, कर्त्तव्य-पालन आदि मानव-धर्म के व्यापक अर्थ में समाहित हैं। सभी मनुष्यों से यही आशा की जाती है कि, वह इन गुणों को अपने-आप में और अपने जीवन में विकसित कर 'धर्म' के अनुसार आचरण करें।

2. विशिष्ट धर्म- व्यक्ति को जिन कर्त्तव्यों का पालन समय, परिस्थिति और किसी स्थान-विशेष को ध्यान में रखते हुए निष्ठापूर्वक करना आवश्यक होता है वह विशिष्ट धर्म के रूप में जाना जाता है। सामाजिक जीवन में आयु, लिंग, वर्ण, आश्रम, देश-काल के आधार पर सभी व्यक्तियों की समाज में अलग-अलग स्थितियां होती हैं। स्त्री का धर्म पुरूष से अलग है तो वहीं पिता का धर्म, पुत्र से अलग हैं, गुरू का धर्म शिष्य के जैसा नहीं है तो राजा का धर्म प्रजा से अलग है। इसलिए किसी प्रकार की विशेष स्थिति में जब व्यक्ति रहता है तब इस स्थिति में रहते हुए वह जिन कर्त्तव्यों का पालन करता है, वह उसके विशिष्ट धर्म के अंतर्गत आते हैं। विशिष्ट धर्म को ही स्वधर्म भी कहते हैं।क्योंकि, यह सभी व्यक्तियों के लिए अलग-अलग रूपों में होता है।

3. आपद्धर्म- विपत्ति के समय या आपत्ति-काल में जब व्यक्ति अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म से अलग हटकर परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार करते हुए अपने धर्म का पालन करता है, तब यह आपद्धर्म कहलाता है। धर्म का यह तीसरा स्वरूप विशेष और कठिन परिस्थितियों में व्यवहार के नियमों को बताता है। रोग, शोक, विपत्ति और धर्म-संकट आदि व्यक्ति के जीवन में आने वाली कुछ ऐसी ही विकट परिस्थितियाँ हैं जिनके सामने आने पर व्यक्ति को कर्त्तव्यों और नियमों के पालन करने में कुछ ढील दी गई जिससे कि, व्यक्ति को उस मुश्किल समय का सामना करने में कठिनाई न हो। इस प्रकार व्यक्ति इस जीवन में और मृत्यु के बाद की स्थिति, दोनों में उन्नति कर सके, इस हेतु उससे धर्म के अनुसार आचरण करने की अपेक्षा की गई और धर्म को 'पुरूषार्थ' मानकर व्यक्ति को उसके जीवन के परम् उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दी।

3.3.2 अर्थ

यह दूसरा प्रमुख पुरूषार्थ है, जिसका संकुचित अर्थ भौतिक सुख-सुविधाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने से लिया जाता है। परन्तु विस्तृत अर्थ में 'अर्थ' से अभिप्राय केवल धन-सम्पत्ति या मुद्रा से नहीं है, बल्कि यह उन सभी साधनों का प्रतीक है जो हमें अपनी भौतिक आवश्कताओं को पूरा करने और अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सहायता देते हैं। उदाहरण के तौर पर पंच महायज्ञों में पांच ऋणों को चुकाने के लिए एक व्यवस्था की गई है जिसके अंतर्गत माता-पिता, देवी-देवता, ऋषि-मुनियों, अतिथियों और प्राणी-मात्र के ऋण से मुक्त होने के लिए पितरों का पिडंदान करना, प्राणी-मात्र को भोजन कराकर स्वयं करना, अतिथि का सत्कार करना आदि सभी कार्यों के लिए 'अर्थ' की आवश्यकता पड़ती है। वैदिक-साहित्य के आधार पर श्री गोखले ने 'अर्थ' का मतलब समझाते हुए कहा है कि, "अर्थ के अन्तर्गत के सभी भौतिक वस्तुऐं आ जाती हैं जो परिवार बसाने, गृहस्थी चलाने और विभिन्न धार्मिक दायित्वां को निभाने के लिए आवश्यक हैं "।

श्री जिम्मर ने 'अर्थ' का शाब्दिक अर्थ समझाते हुए इस प्रकार परिभाषित किया है कि "अर्थ की अवधारणा के अन्तर्गत वे समस्त भौतिक वस्तुएं आ जाती हैं जिन्हें हम अपने अधिकार में रख सकते हैं तथा जिनसे हम आनन्द ले सकते हैं और जो खो भी सकती हैं एवं परिवार का भरण-पोषण करने के लिए, परिवार की समृद्धि के लिये तथा धार्मिक कर्त्तव्यों को निभाने के लिए अर्थात् जीवन के कर्त्तव्यों का उचित ढंग से पालन करने के लिए जिनकी आवश्यकता होती है।"

अर्थ को प्रमुख पुरूषार्थ मानने के पीछे एक प्रमुख कारण यह रहा कि, हिन्दू-जीवन में जिन धार्मिक कार्यों को करना मनुष्य के लिए आवश्यक माना गया उन सभी को अर्थ के बिना पूरा करना सम्भव नहीं था। जब व्यक्ति अपने प्रयासों से आर्थिक जीवन में प्रवेश कर पर्याप्त अर्थ का संचय करता है तभी वह इस योग्य बनता है कि, वह विभिन्न प्रकार के यज्ञों को विधि-विधान के साथ पूरा कर सके, दान-दक्षिणा दे सके, घर आए अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सके, बच्चों का समुचित पालन-पोषण कर सके और अन्य प्राणियों का हित कर सके। महाभारत में भी अर्थ के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि, धर्म का सही तरीके से पालन करने के लिए अर्थ इतना अधिक आवश्यक है कि, इसके न होने पर व्यक्ति अपने दायित्वों का सही ढंग से निर्वाह नहीं कर सकता। धर्म के पालन को पूरी तरह 'अर्थ' पर आधारित माना गया है। इसी कारण गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को उद्यम करके 'अर्थ' को अर्जित करने पर विशेष बल दिया गया है।

अर्थ का हमारे जीवन में भले ही काफी महत्त्व हो, परन्तु उसे उचित साधनों द्वारा कमाने पर जोर दिया गया है। हिन्दुओं के आदर्शों के अनुसार यह कहा गया है कि, व्यक्ति को अपने मन में हमेशा यह याद करते रहना चाहिए कि आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद जो धन व्यक्ति के पास बच जाता है, वह उस धन का असली मालिक/स्वामी नहीं है। बल्कि वह तो समाज की ओर से केवल उस 'धन' या 'अर्थ' का संरक्षण करने वाला है और उसे उस अर्थ की रक्षा करते हुए लोगों की भलाई से सम्बन्धित कार्यों के लिए व्यय करना चाहिए। यदि इस आदर्श का सभी व्यक्ति पालन करें तो समाज में जो विभिन्न वर्ग बने हैं, उन सभी में धन का एक-समान वितरण हो सकेगा और समाज के लिए भौतिक रूप से सुखी और सम्पन्न होना बहुत सरल हो जाएगा। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि, व्यक्ति के जीवन का एकमेव लक्ष्य केवल भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करना और धन कमाना नहीं हो जाए, इस स्थिति से बचने के लिए अर्थ को धर्म के अधीन मानकर व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम को छोड़कर शेष आश्रमों से पूर्णतया दूर रहने का निर्देश भी दिया गया है ताकि, व्यक्ति अपने मूल उद्देश्य से भटक न सके।

3.3.3 काम

पुरूषार्थों में तीसरे स्थान पर है 'काम', जो कि, मानव-जीवन का एक लक्ष्य माना गया है। काम के अर्थ को केवल भोग-वासना तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। बल्कि यह मानव की सभी इच्छाओं और कामनाओं को भी प्रकट करता है। 'काम' शब्द को संकुचित अर्थ में देखें तो इस अर्थ में यह यौन-इच्छाओं की पूर्ति से सम्बन्ध रखता है और विस्तृत अर्थ में देखने पर मनुष्य की सभी प्रवृत्तियाँ, अभिलाषाएं और इच्छायें इसमें समाहित हैं। वास्तविकता यह है कि 'मन' ही वह मूल कारक है जिससे सभी इन्द्रियाँ सहज ही प्रभावित हो जाती हैं। इस प्रकार 'काम' जीवन के आनन्द को भी व्यक्त करता है, यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर प्राप्त किया जा सकता है। शारीरिक स्तर पर इस आनन्द को परिभाषित करें तो इस प्रकार के काम के अन्तर्गत वह सभी आनन्द शामिल किए जाते हैं जिनको व्यक्ति शरीर-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध के द्वारा प्राप्त करता है, परन्तु आनन्द का यह स्वरूप इसकी व्याख्या करने में पूरी तरह से समर्थ नहीं है। वास्तविक आनन्द तो वह है, जिसके द्वारा व्यक्ति कलात्मक जीवन के माध्यम से मन और हृदय को भी आनन्द का उपभोग करा सके और शरीर के साथ-साथ मानसिक स्तर पर भी सुख या आनन्द का अनुभव करे।

अब तक उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, 'काम' के दो प्रमुख पहलू हैं। पहला मानव के यौन-जीवन से सम्बन्धित है और दूसरा पहलू उसके भावुक तथा सौन्दर्यात्मक जीवन को प्रकट करता है। पहला पहलू यह भाव व्यक्त करता है कि, मानव में यौन-सम्बन्धी इच्छाओं का पाया जाना एकदम सामान्य है। क्योंकि, यौन-इच्छा मानव की मूल-प्रवृत्तियों में से एक है। परन्तु मानव उसे ही सब कुछ न मान ले इसके लिये विवाह के तीन उद्देश्यों में 'रति' को कम महत्त्व देते हुए उसे धर्म और सन्तान की उत्पत्ति के बाद माना गया है। काम का दूसरा पहलू मानव की सृजनात्मक और सौन्दर्यपूर्ण दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि के द्वारा व्यक्ति के उद्वेगों, भावपूर्ण और रचनात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति मिलती है। यह अभिव्यक्ति व्यक्ति को मानसिक रूप से सन्तुलित करती है।

काम के द्वारा व्यक्ति की कामनापूर्ति होती है, जिससे वह मानसिक रूप से सन्तुष्ट रहता है। यह पति-पत्नी के बीच प्रेम का आधार, सन्तान की उत्पत्ति के द्वारा समाज की निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक होता है। काम के द्वारा व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त होकर माता-पिता को मोक्ष का अधिकारी भी बना सकता है। काम-इच्छाओं की सन्तुष्टि द्वारा ही व्यक्ति उससे विरक्त होकर आगे बढ़ता है और यह विरक्ति की भावना ही उसको आगे बढ़कर मोक्ष को प्राप्त करने की दिशा में प्रयास करने के लिए सहायक होती है। अतः भले ही सीमित अर्थ में हो, लेकिन 'काम' एक ऐसा पुरूषार्थ है जो व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। हिन्दू सामाजिक जीवन में 'काम' की भावना-पूर्ति के लिए उसे केवल 'गृहस्थ-आश्रम' में ही पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

3.3.4 मोक्ष

धर्म, अर्थ और काम जिस पुरूषार्थ की प्राप्ति में योग देते हैं वह चौथा और जीवन का अन्तिम 'पुरूषार्थ' 'मोक्ष' माना गया है। इस पुरूषार्थ को कठिन साधना और परिश्रम के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। डॉ0 कपाड़िया ने मोक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, "मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको प्रकाशित करना तथा इसके द्वारा आनन्द और ज्ञान प्राप्त करना है।" सुख और आनन्द को अर्थ और काम द्वारा थोड़े समय के लिए ही अनुभव किया जा सकता है, स्थायी सुख को प्राप्त करने के लिए ईश्वर-चिन्तन में डूबकर आत्म-ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को समर्पित हो जाए तथा जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर पूर्ण सन्तुष्टि का अनुभव करने लगे तब यह

स्थिति 'मोक्ष' कहलाती है जोकि, प्रत्येक मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष तब मिलता है जब व्यक्ति अपने हृदय की अज्ञानता से मुक्ति पा ले।

बौद्ध-दर्शन में जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति बताई है। यहाँ जीवन-मुक्ति से आशय सांसारिक दुःखों से संसार में रहते हुए ही छुटकारा पा लेना और तत्त्व-ज्ञान से है और देह-मुक्ति का अर्थ जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा पाना है। सांख्यशास्त्र में मनुष्य को किसी भी कार्य का कर्त्ता न मानकर प्रकृति को महत्त्व दिया गया है। प्रकृति ही बुद्धि और मन को चलाती है, जब व्यक्ति 'धर्म' का निर्वाह करते हुए 'सात्विक ज्ञान' युक्त हो जाता है, तब वह अपने और प्रकृति के बीच अन्तर को समझकर माया को पहचान लेता है और उससे दूर हो जाता है या माया उसको प्रभावित नहीं कर पाती है तब व्यक्ति सभी बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति (बन्धनों से पूर्ण छुटकारा) को प्राप्त कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है, यही मोक्ष है। गीता में कहा गया है कि, जो व्यक्ति बाहरी सुख-दुःख से अप्रभावित रहकर अपने-आप में ही आनन्द महसूस करे, ऐसा योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में मिलकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह सभी जगह ईश्वर का अनुभव करते हैं और सभी प्राणियों का भला करने में लगे रहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों की मान्यता है कि, आत्मा ही परब्रह्मस्वरूप है, और जब यह अपने इस स्वरूप को पहचान लेती है, तब यही स्थिति उसको मोक्ष प्रदान कर देती है। अतः जब व्यक्ति की आत्मा, परमात्मा के साथ एकरूप हो जाए तब उसे बार-बार इस संसार में नही आना पड़ता, यही स्थिति 'मोक्ष' कहलाती है। हिन्दू मान्यतानुसार मोक्ष को तीन प्रकार के मार्गों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है-कर्म-योग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग। कर्म-मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति के द्वारा अपने निश्चित कर्मों का समुचित रीति से पालन करने और धार्मिक कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक करते रहने पर उसे 'मोक्ष-प्राप्ति' होना बताया है। गीता में भी यही कहा गया है कि कर्म करो, पर फल की आशा मत करो। जो व्यक्ति ऐसा करता है उसे ही मोक्ष मिलता है। ज्ञान-मार्ग में कहा गया है कि, परमेश्वर निराकार है और बुद्धिमान व्यक्ति अपनी बुद्धि की सहायता से परमब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानकर पूर्ण ज्ञान-प्राप्त कर लेता है, तब यह 'मोक्ष' की स्थिति होती है। भक्ति-मार्ग में ईश्वर को प्रेम और भक्ति की सहायता से जान लेने और उस पर प्रेमपूर्ण भक्ति द्वारा विजय प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। इस मार्ग पर भक्त ईश्वर को सगुण मानकर उसकी आराधना कीर्तन और भजन द्वारा करता है और अपने को समर्पित कर देता है। ईश्वर स्वयं उसकी भक्ति और प्रेम के आगे झुककर उसे परम् आनन्द की स्थिति प्रदान कर देते हैं। इन तीनों में भक्ति-मार्ग ही सबसे सहज और सरल मार्ग है, ज्ञान-मार्ग सामान्य जनता के लिए निश्चित ही कठिन है और कर्म-मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जो व्यक्ति को

भक्ति-मार्ग अपनाते हुए कर्म के फल को भगवान को अर्पित करके प्रभु में मन को लगा देने का मार्ग दिखलाता है। निष्काम कर्म और भक्ति-भाव ये इसके दो आधार हैं। अतः अन्तिम रूप में परम् सत्य का ज्ञान होना, और आवागमन के चक्र से मुक्ति पाना ही मोक्ष है।

बोध-प्रश्न 1

i) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संकल्पना की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

ii) अर्थ और काम किस प्रकार धर्म से सम्बन्धित है ?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
..... ……..

3.4 पुरूषार्थ का महत्त्व

स्वार्थ और परमार्थ के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य पुरूषार्थ द्वारा किया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का सन्तुलित समन्वय एक आदर्श जीवन-पद्धति को सामने लाता है। मानव-जीवन का 'धर्म' है अनुशासन और कर्त्तव्यों का पालन, अर्थ और काम भौतिक सुखों का भोग करने तथा 'मोक्ष' इन सबके द्वारा परम् तत्व की प्राप्ति करने को कहा गया है। इसी रूप में

मानव-जीवन के सर्वांगीण और सन्तुलित ढंग से विकास करने को ही पुरूषार्थ कहते हैं। यदि व्यक्ति अर्थ और काम में ही डूबा रहेगा तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं रहेगा। पुरूषार्थ मानव की इस पाशविक प्रवृत्ति का समाजीकरण करता है, धर्म, काम व अर्थ को नियमित और मर्यादित कर जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने में सहयोग देता है। भारतीय संस्कृति में पुरूषार्थ की कल्पना के पीछे यही सिद्धान्त रहा है कि, मनुष्य के जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष है, परन्तु मनुष्य को अपने विभिन्न धार्मिक, सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के साथ अर्थ और काम-सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी अच्छी तरह से पूर्ति करनी चाहिए। आश्रमों की इस व्यवस्था के द्वारा मनुष्य को अपने जीवन में इन चारों पुरूषार्थों को पूर्णतया प्राप्त करने का सही अवसर मिलता है। पुरूषार्थ का यह आदर्श जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को समान रूप से महत्त्व देता है। पुरूषार्थ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और व्यक्ति- समूह के बीच के सम्बन्धों में संतुलन स्थापित करता है और व्यक्ति तथा समूह को नियंत्रित करता है। यही पुरूषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्त्व है। यह सभी पुरूषार्थ अपनी-अपनी जगह समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और परस्पर सम्बन्धित भी हैं। डॉ0 कपाड़िया ने पुरूषार्थ की विशिष्टता को इन शब्दों में बताया है कि, "पुरूषार्थ का सिद्वान्त भौतिक इच्छाओं और आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करता है। यह मनुष्य में पैतृक-सहजात, यौन-प्रवृत्ति, उसके शक्ति और धन के प्रति मोह, उसकी कलात्मक और सांस्कृतिक जीवन के प्रति अभिलाषा, उसकी परमात्मा से पुनर्मिलन की लालसा को सन्तुष्ट करने का भी प्रयत्न करता है। यह जीवन की समग्रता को देखता है"। पुरूषार्थ के इन चारों आधारों द्वारा जीवन के प्रति एक सुन्दर, समन्वित और व्यापक-दृष्टिकोण को अपनाया गया है।

3.5 संस्कार

हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन में संस्कारों का सबसे ऊँचा स्थान रहा है। संपूर्ण विश्व के सभी धर्मों अथवा संस्कृतियों में धार्मिक और सामाजिक एकता स्थापित करने और बनाये रखने के लिए कुछ संस्कारों को विकसित किया गया है। संस्कार ही वह सशक्त माध्यम हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से परिष्कत होकर समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन पाता है। संस्कार की इस प्रक्रिया में कुछ विधियाँ या धार्मिक अनुष्ठान आते हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के 'अहम्' का समाजीकरण और व्यक्तित्त्व का सम्पूर्ण विकास करने का प्रयास किया जाता है।

विश्व में जो संस्कृति जितनी अधिक पुरानी है, उसमें संस्कारों का महत्त्व भी साधारणतया उतना ही अधिक दिखाई देता है। विभिन्न समाजों में संस्कारों की प्रकृति में पायी जाने वाली भिन्नता का सम्बन्ध उस समाज के मूल्यों से होता है। भारतीय समाज में सदियों से विभिन्न संस्कारों को यहाँ के जीवन-दर्शन और नैतिक-मूल्यों का सबल आधार माना जाता रहा है। हिन्दू जीवन का अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण अंग है धर्म और धर्म के लिए शुद्धता और पवित्रता के पालन की अनिवार्यता रही। इसीलिए हिन्दुओं ने व्यक्ति के जीवन को शुद्ध बनाने, उसके मन, शरीर और मस्तिष्क को पवित्र करने के उद्देश्य से संस्कारों का प्रवर्तन विशुद्धतया धार्मिक आचार-विचार की भूमि पर किया है।

संस्कार शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। शाब्दिक अर्थ में संस्कार का मतलब शुद्धि, सफाई या सुधार से है। अतः हम कह सकते है कि जीवन को परिशुद्ध करने के लिए समुचित ढंग से किए गए कार्य-पद्धति को ही संस्कार कहते हैं। संस्कार वे कृत्य हैं जो परम्परागत रूप से जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दुओं में आवश्यक होते है क्योकि इसके बिना जीवन की परिशुद्धिता तथा आत्मा की उन्नति सम्भव हैं।यद्यपि संस्कार की इस प्रक्रिया में कुछ धार्मिक अनुष्ठानों तथा कर्मकाण्डों की भी विशेष भूमिका होती है, परन्तु संस्कार की व्याख्या केवल इन्हें सम्पन्न करने मात्र की किसी विशेष प्रक्रिया से नहीं की जा सकती है, बल्कि संस्कारों का असली उद्देश्य व्यक्ति की आत्मशुद्धि करने और उसे सामाजिक दायित्वों से अच्छी तरह से परिचित कराना रहा है।

3.5.1 संस्कारों के भेद

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मशास्त्रों में काफी भिन्नता पायी जाती है।गौतम धर्मसूत्र में सबसे अधिक 40 संस्कारों का उल्लेख किया गया है जबकि पाराशर ग्ह्यसूत्र में तथा बौधायन ग्ह्यसूत्र में इन संस्कारों की संख्या 13 है। मनुस्मृति में भी 13 संस्कारों का ही उल्लेख किया गया है।

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं-

1) गर्भाधान- जिस कर्म के द्वारा पुरूष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसे गर्भाधान कहते हैं। गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य सन्तान, विशेषकर पुत्र सन्तान को जन्म देना है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुत्र को जन्म देना एक पवित्र धार्मिक कार्य माना गया है। धर्मशास्त्रों में इस संस्कार को करने का समय भी निर्धारित किया गया है। विवाह की चौथी रात्रि गर्भाधान के लिए उपयुक्त है। मनु ,याज्ञवल्क्य

एवम् बैखानस की मान्यता है कि पत्नी के ऋतु स्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भाधान की दृष्टि से सही है। इन रात्रियों में पुत्र जन्म के लिए समरात्रि (अर्थात् रात्रि की वह तिथि जो 2 की संख्या से विभाजित हो सकती हो) तथा पुत्री जन्म के लिए विषम रात्रि को चुना जाना उपेक्षित है । इस संस्कार का आधुनिक समाज में कोई विशेष महत्त्व नहीं है और न ही आजकल इनका पालन किया जाता है।

2) पुंसवन- पुंसवन शब्द का अर्थ पुत्र सन्तान को जन्म देने से है। इस संस्कार का उद्देश्य पुत्र के जन्म की कामना करना है। शौनक ने लिखा है कि, ''पुत्रान् प्रसूयते येन कर्मण तत् पुंसवनमीरितम्।'' अर्थात् जिस कर्म के द्वारा पुत्र-जन्म की कामना की जाये, वही कार्य पुंसवन है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार उस समय सम्पन्न किया जाता है जब चंद्रमा पुष्य नक्षत्र में ,विशेष रूप से तिष्य में संक्रमण करता है। स्त्री इस दिन उपवास रखती है और इस अवसर पर गर्भिणी स्त्री की नाक के दाहिने नथुने में वट-वृक्ष की छाल को कूट-कूट कर निकाला गया रस मंत्रोच्चारण के साथ डाला जाता था जो यशस्वी पुत्र की कामना से सम्बन्धित था। याज्ञवल्क्य की मान्यता के अनुसार इस अवसर विशेष पर स्त्री की गोद में जल से भरा हुआ कलश रखा जाता था और पति गर्भ को छू करके पुत्र सन्तान की इच्छा करता था।

3) सीमन्तोन्नयन- अमंगलकारी या दुष्ट शक्तियों से रक्षा के लिए इस संस्कार द्वारा गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमान्त) को ऊपर उठाकर संवारने (उन्नयन) का विधान है। गृह्यसूत्र में इस संस्कार को गर्भ के चौथे या पाँचवे मास में सम्पन्न करने का विधान किया गया है। गर्भिणी के केशों को संवारने का एक अन्य उद्देश्य उसे जितना हो सके प्रसन्न और् उल्लसित रखना था। इस संस्कार के प्रारम्भ में मातृपूजन, नान्दि श्राद्ध आदि होते हैं।

4) जातकर्म- यह संस्कार बालक के जन्म के ठीक बाद सम्पन्न किया जाता है। जब बालक का जन्म होता है तो अनेक अनिष्टकारी प्रभावों का भय होता है, उन्हीं से बचने के लिए यह संस्कार किया जाता है। इसका उद्देश्य शिशु को अमंगलकारी शक्तियों के प्रभाव से बचाना और उसके दीर्घायु और स्वस्थ होने की कामना करना है। बालक के जन्म के तुरन्त बाद पिता अपनी चौथी अंगुली और एक सोने की शलाका में शिशु को शहद और घी अथवा केवल घी चटाता है। इसी समय बच्चे की नाभि को काटकर माँ तथा बच्चें को स्नान कराया जाता है।

5) नामकरण- मनुस्मृति के अनुसार नामकरण संस्कार बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। बालक का नाम रखते समय उसके वर्ण, जाति और फलित ज्योतिष के अनुसार उसकी राशि का ध्यान रखा जाता है। नामकरण संस्कार में पूजा, हवन आदि करने के बाद पुरोहित बच्चे की राशि को विचारकर निकालते है और उसी राशि से सम्बन्धित प्रथम अक्षर के आधार पर बच्चे का नाम रख दिया जाता है।

6) निष्क्रमण- निष्क्रमण शब्द का अर्थ 'बाहर की ओर जाना' है। शिशु के विधि-विधानपूर्वक पहली बार घर से बाहर जाने को निष्क्रमण संस्कार के नाम से पुकारते हैं। मनुस्मृति में बताया गया है कि यह संस्कार जन्म के बाद बारहवें दिन से चौथे महीने तक गिना जाता है और इसी अवधि में यह संस्कार सम्पन्न कराया जाता है। शिशु को माँ की गोद में देकर सबसे पहले पिता सूर्य-दर्शन करवाता है। इस संस्कार का व्यवहारिक अर्थ एक निश्चित समय के बाद शिशु को खुली वायु में लाना है।

7) अन्नप्राशन- इस संस्कार के पूर्व तक शिशु अपने भोजन के लिए माता के दूध या गाय के दूध पर ही निर्भर रहता था।मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे महीने में सम्पन्न किया जाता है। अन्नप्राशन संस्कार बच्चे के द्वारा सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करने का सूचक है। साधारणतया इस संस्कार के अवसर पर पहली बार शिशु को दही, शहद और घी के साथ कुछ अन्न खाने को दिया जाता है। इस संस्कार का महत्त्व इस कारण है कि, शिशु को सही समय पर अपनी माता के दूध से अलग कर उसका शारीरिक विकास उचित रूप से होता है।

8) चूड़ाकरण (मुण्डन) संस्कार- धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए लम्बी आयु ,सुन्दरता तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का उद्देश्य है। यह वह संस्कार है, जिसमें पहली बार शिशु के सिर के बालों को मुंडवाया जाता है। मनुस्मृति के अनुसार चूड़ाकर्म जन्म के पहले साल अथवा तीसरे साल में किया जाना चाहिए। तीसरे साल में सम्पन्न चूड़ाकरण को सर्वोत्तम माना गया है। अपनी-अपनी मन्नत के अनुसार बहुत-से लोग देवी के मन्दिर में जाकर या किसी तीर्थस्थान या गंगाजी अथवा अन्य किसी पवित्र नदी के किनारे जाकर ही मुण्डन कराते हैं।

9) कर्णछेदन- इस संस्कार के द्वारा बच्चें के कानो को छेदा जाता है। अति प्राचीन काल से ही संसार के विभिन्न समाजों में शरीर के विभिन्न अंगों को छेदकर आभूषण पहनने का प्रचलन रहा है। सुश्रुत की मान्यता है कि, रोग आदि से रक्षा और भूषण या अलंकरण के लिए बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। कर्णछेदन संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तीसरे या पांचवे साल का

विधान किया गया है। इस समय स्वर्णकार या नाई को बुलाकर मन्त्रोच्चारण के साथ कर्णछेदन करवाया जाता है और कानों में सोने की बाली पहना दी जाती है। इसके बाद ब्राह्मण भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था।

10) विद्यारम्भ- इस संस्कार के साथ बालक की शिक्षा आरम्भ होती है। बालक का मस्तिष्क जब शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता है, तब उसका विद्यारम्भ अक्षर-ज्ञान के साथ शुरू किया जाता है। उपरोक्त संस्कार के द्वारा बालक के मानसिक और बौद्धिक विकास का कार्य प्रारम्भ होता था। विश्वामित्र के अनुसार बालक की आयु के पांचवे साल में यह संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिये। सूर्य के उत्तरायण में आने पर इस समय को शुभ मानते हुए यह संस्कार करवाया जाता है। इस दिन स्नान के बाद शिशु को सुन्दर वेश-भूषा से सजा कर गणेश जी, सरस्वती, बृहस्पति आदि देवों का पूजन किया जाता है, इसके बाद गुरू का सम्मान कर शिशु 'ऊँ' नमः सिद्धम् दोहराता है और वहीं पर लिखता है। इसके बाद उसे अ, आ इत्यादि सिखाए जाते हैं।

11) उपनयन- हिन्दू जीवन में किशोरावस्था को सम्पूर्ण जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानने के कारण इससे सम्बन्धित उपनयन संस्कार का वैदिक-काल से ही विशेष महत्त्व रहा है। अथर्ववेद में उपनयन संस्कार का अर्थ ब्रह्मचारी द्वारा शिक्षा ग्रहण करने तथा ब्रह्मचारी को वेदों की दीक्षा देने से था। आजकल उपनयन संस्कार का शिक्षा सम्बन्धी अर्थ प्रायः लुप्त हो चुका है, अब इसे बालक के जनेऊ धारण संस्कार के रूप में लिया जाता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन संस्कार आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें साल में किया जाना चाहिए। उपनयन संस्कार सम्पन्न करने के लिए एक शुभ दिन चुन लिया जाता है, विशेषतः शुक्ल पक्ष के किसी उपयुक्त दिन और समय का निर्धारण करके गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती, धात्री और मेधा आदि देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। विद्यार्थी पूरी रात मौन रहकर बिताता है। प्रातःकाल माता और पुत्र अन्तिम बार साथ-साथ भोजन करते हैं, इसके बाद बालक को मण्डप ले जाकर उसका मुण्डन किया जाता है। फिर बालक को स्नान कराकर उसके शरीर को पीले वस्त्रों से ढका जाता है। इसके बाद मन्त्रोच्चारण के साथ बालक की कमर में मेखला बांधते हैं जो उसे पापों से बचाती, उसके जीवन को शुद्ध रखती है। इसके बाद ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र(जनेऊ) दिया जाता है। उपवीत के तीन धागे सत्व, रजस्, तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं । यह तीन धागे ब्रूरह्मचारी को यह याद दिलाने के लिए होते हैं कि, उसे ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण से उऋण होना है। इस अवसर पर बालक को बैठने के लिए मृगचर्म या पशुचर्म तथा चलने के लिए एक दण्ड दिया जाता है।

12) समावर्तन- यह संस्कार विद्यार्थी जीवन के अन्त का सूचक है। समावर्तन शब्द का अर्थ है 'घर की ओर पुनः प्रस्थान करना'। इसका अर्थ यह है कि, विद्यार्थी वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् गुरूकुल से पुनः अपने घर की ओर वापस लौटता था, तब गुरूकुल में ही इस संस्कार को पूरा किया जाता था। इस संस्कार के लिए सर्वसामान्य आयु 24 साल मानी गयी है।। क्यांकि, इस समय विद्यार्थी वेदों की शिक्षा पूरी कर लेता था। मनु ने लिखा है कि, गुरू की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए तथा उसके बाद सवर्ण तथा गुणवती कन्या से विवाह करना चाहिए। इस संस्कार को पूरा करने के लिए शुभ दिन चुना जाता था। इस दिन वह गुरू को प्रणाम करके वैदिक-अग्नि को अन्तिम आहुतियां प्रदान करता था। अग्नि के पास ही जल से भरे आठ कलश रखे रहते थे। इस अवसर पर वह इन कलशों के जल से स्नान करता था, जोकि ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति तथा गृहस्थ जीवन के प्रारम्भ का प्रतीक माना जाता था। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म और दण्ड को त्याग कर नए कपड़े, आभूषण और पुष्प-माला आदि धारण करता है। यह प्रक्रिया इस बात का प्रतीक है कि , व्यक्ति अब ब्रह्मचर्य के नियमों से बंधा हुआ नहीं है। इसके बाद गुरू का आशीर्वाद ले कर वह घर को लौटता है। इसका मतलब यह है कि, समावर्तन संस्कार को विवाह का प्रवेश-द्वार भी कहा जा सकता है।

13) विवाह- हिन्दुओं के लिए विवाह एक धार्मिक संस्कार है। विवाह के माध्यम से व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और अपने समाज तथा संस्कृति की समृद्धि में अपना योगदान देता है। विवाह संस्कार व्यक्ति को ऋषि- ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण, अतिथि-ऋण तथा जीव-ऋण से उऋण होने का एक माध्यम माना जाता है। विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करके ही व्यक्ति चार पुरूषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। पाराशर गृह्यसूत्र में तीस तथा बौधायन गृहसूत्र में पच्चीस अनुष्ठानों का उल्लेख है जो हिन्दू विवाह के आवश्यक अंग हैं। इन अनुष्ठानों में होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। विवाह न केवल जैविकीय आवश्यकताओं को पूरा करता है वरन् धार्मिक कार्यों के सम्पादन और समाज में निरन्तरता बनाये रखने की दृष्टि से भी यह एक आवश्यक प्रक्रिया है।

14) अन्त्येष्टि- यह मनुष्य की जीवन-यात्रा का अन्तिम संस्कार है ,जिसके साथ व्यक्ति के सांसारिक जीवन का भी अन्त होता है। इसका उद्देश्य मृत व्यक्ति की आत्मा को परलोक में शान्ति प्रदान करना है। मृत्यु के बाद शव-यात्रा के पहले मृतक को स्नान कराकर,नए कपड़े पहनाकर बांस से बनी अर्थी पर लिटाया जाता है। शव-यात्रा के दौरान रास्ते भर मंत्रों (राम नाम सत्य है, सत्य से ही मुक्ति है) का

सामूहिक उच्चारण किया जाता है। मंत्र बोलने के साथ मृतक के पुत्र और अन्य रक्त-सम्बन्धी चिता को अग्नि देते हैं। दाह-संस्कार के बाद अस्थियों को गंगा या अन्य नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। मृत्यु के दिन से दसवें अथवा तेरहवें दिन तक मृतक के घर में अशौच का काल रहता है और इस अवधि में मृतक की आत्मा की शान्ति और परलोक में उसके कल्याण से सम्बन्धित कई अनुष्ठान किए जाते हैं। इसके अलावा आत्मा की शान्ति के लिए हर साल श्राद्ध और पिण्डदान भी किया जाता है।

बोध प्रश्न 2

i) हिन्दुओं में जन्म के पूर्व के संस्कार बताइए ?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

ii) समावर्तन संस्कार तथा उपनयन संस्कार का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?

.....
.....
.....
.....
.....

3.6 संस्कारों का महत्त्व

1) व्यक्तित्व -विकास में सहायक- व्यक्तित्व -निर्माण में संस्कारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मनुष्य की प्रवृत्तियों और चित्तवृत्तियों को प्रेरणा देने वाले उसके मन में पले संस्कार होते हैं। व्यक्ति अपने जीवन में जो भी शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे कर्म करता है, उन कर्मों से वैसे ही नवीन संस्कार

निर्मित होते रहते हैं। इस प्रकार इन संस्कारों की एक अंतहीन श्रृंखला बनती चली जाती है जो मनुष्य के व्यक्तित्व -निर्माण में अपना सहयोग देती हैं।

2) सामाजिक समस्याओं का समाधान- सामाजिक समस्याओं का समाधान व निदान करने में भी संस्कारों का अमूल्य योगदान रहा है। जब व्यक्ति को स्वास्थ्य-विज्ञान तथा प्रजनन-शास्त्र का ज्ञान नहीं था तथा स्वास्थ्य-विज्ञान का भी बहुत विकास नहीं हुआ था, उस अवस्था में यह संस्कार ही उसकी शिक्षा का माध्यम बने और बालक के जन्म से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान भी किया। उदाहरणस्वरूप गर्भाधान और पुंसवन संस्कार के द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में गर्भिणी की आवश्यकताओं को पूरा भी कर लिया जाता था और साथ ही उसकी जैविकीय आवश्यकताओं को पूरा करने का पूरा ध्यान भी रख लिया जाता था। विवाह -संस्कार का आधारभूत उद्देश्य भी दाम्पत्य-जीवन की समस्याओं और कठिनाईयों का समुचित समाधान करके पारिवारिक जीवन को अधिक से अधिक सुगठित बनाना था जोकि, एक स्वस्थ समाज को बनाने के लिए सशक्त आधार और प्राथमिक पाठशाला है।

3) शिक्षा का सर्वोत्तम साधन- शिक्षा के क्षेत्र मे सभी संस्कारों का बहुत अधिक योगदान रहा है।व्यक्ति को सांसारिक ज्ञान देने ,उसे प्रशिक्षित कर समाजोपयोगी और योग्य सदस्य बनाने में संस्कार जीवन के सभी स्तरों पर सहायक सिद्ध हुए हैं। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य विविध परिस्थितियों में व्यक्ति को उसके दायित्वों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराकर उसके व्यक्तित्त्व का सही दिशा में विकास करना है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके द्वारा निभाई अनेक भूमिकाओं यथा माता-पिता, पुत्र, विद्यार्थी , गृहस्थ इत्यादि के रूप में उसे अनुशासित जीवन जीने की शिक्षा देने में भी हिन्दू संस्कारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

4) समाजीकरण में सहायक- संस्कार व्यक्ति के समाजीकरण का एक ऐसा विशेष माध्यम हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति यथाशीघ्र सामाजिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है, उन्हें आत्मसात् करता है तथा अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में प्रयासरत होता है। इन संस्कारों के द्वारा सुनिर्दिष्ट आचार-विचार के उचित पालन के द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार से होता है कि, वह हर पल अपने सामाजिक कर्त्तव्यों से परिचित होता जाता है। इसके अलावा उसे सामाजिक अपेक्षाओं का ज्ञान, सामाजिक परिपक्वता और उन्हें पूरा करने के लिए सहायक व अनुकूल वातावरण बनाने में भी संस्कार अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

5) नैतिक गुणों और सांस्कृतिक विकास का आधार- संस्कृति के स्थायीकरण तथा जनमानस में नैतिक गुणों का विकास करने की दिशा में संस्कारों ने विशेष भूमिका को निभाया है। दया, उचित व्यवहार, पवित्रता, क्षमा, विनम्रता, निर्लोभता, सहानुभूति और समर्पण आदि अनेक नैतिक गुणों को संस्कारों की सहायता से व्यक्ति कें जीवन में और व्यवहार में विकसित किया जाता है। इन गुणों की सहायता से व्यक्ति-निर्माण होता है जोकि, विस्तृत होकर समाज की नैतिक-प्रगति की ओर बढ़ता है। वह संस्कार ही हैं जिनके द्वारा व्यक्ति सामाजिक रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक परम्पराओं से परिचय प्राप्त करके उनके प्रति विचारशील होकर वैसा ही आचरण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार एक से दूसरे को पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तांतरित होते हुए यह सांस्कृतिक विशेषताऐं संस्कारों को सुरक्षित रखती हैं और उनका लम्बे समय तक संरक्षण करती हैं।

बोध-प्रश्न 3

i) व्यक्ति के समाजीकरण में संस्कारों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.7 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले हमने चार पुरूषार्थ- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में चर्चा की है। भारतीय परम्परा में पुरूषार्थों को जीवन का ध्येय माना गया है। उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, इन चारों पुरूषार्थों के माध्यम से मनुष्य जीवन को सार्थक कर्मों की दिशा में प्रवृत्त करने का प्रयास किया जाना ही इनका मुख्य लक्ष्य है। यह चार पुरूषार्थ दो भागों में विभक्त हैं। पहले भाग में धर्म और अर्थ आते हैं और दूसरे में काम और मोक्ष। काम सांसारिक सुख का और

मोक्ष सांसारिक सुख-दुःख से मुक्ति का प्रतीक है। इनके साधन धर्म और अर्थ हैं। अर्थ से काम और धर्म से मोक्ष को साधा जाता है। पुरूषार्थ के द्वारा व्यक्ति जीवन में उच्चतर लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। पुरूषार्थ उस सार्थक जीवन-शक्ति का प्रतीक है जो सांसारिक सुख-भोग के बीच, धर्म पालन के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग दिखाता है। भारतीय समाज को एक नियंत्रित स्वतन्त्रता के दायरे में रखते हुए हिन्दू जीवन दर्शन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना पुरूषार्थ के द्वारा सम्भव है। इसके बाद संस्कार के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया है। हिन्दू संस्कार व्यक्ति का समाजीकरण करने तथा उसके सामाजिक व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रमुख आधार रहे हैं परन्तु आधुनिक समय में अनेक संस्कारों का पहले की तरह पालन नहीं किया जाता है या फिर कई संस्कारों का समय के साथ त्याग कर दिया गया है। आज कुछ संस्कारों का यदि पालन किया भी जा रहा है तो उनमें आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर स्वीकार किया जाता है।

3.8 परिभाषिक शब्दावली

सन्यास- जीवन का वह अन्तिम चरण जहाँ व्यक्ति अपने भौतिक संसार का त्याग करता है।

पुंसवन- पुंसवन एक जन्म से पूर्व का संस्कार है, जो पुत्र सन्तान को जन्म देने से सम्बन्धित है।

ब्राह्मचर्य- धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हिन्दू के जीवन का वह पहला चरण जिसमें वह कँआरा रहकर शिक्षा प्राप्त करने का कार्य करता है।

ऋण- हिन्दू जीवन में व्यक्ति कर्तव्यों -कर्मों का द्योतक।

समाजीकरण-सामाजिक सम्पर्क के कारण व्यक्ति द्वारा सीखने की प्रक्रिया का नाम समाजीकरण है।

3.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध-प्रश्न 1

i) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर पुरूषार्थ के प्रकार शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर पुरूषार्थ के प्रकार शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध -प्रश्न 2

i) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर संस्कारों के भेद शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर संस्कारों के भेद शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 3

i) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर हिन्दू संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्त्व शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

मुकर्जी रविन्द्रनाथ ,1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

गिलिन और गिलिन , 1950, कल्चरल सोशियोलाजी , द मैकमिलन को. , न्यूयार्क।

मदान टी. एन.(संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूिनवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

थामस ओ. डी., 1969 , दि सोशियोलॉजी ऑफ रिलिजन , प्रेन्टिस हॉल ,नई दिल्ली।

कुमार, शशिप्रभा. 1996. भारतीय संस्कृति: विविध आयाम. नई दिल्लीः विद्यानिधि प्रकाशन।

3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

देव, योगेश्वर व निर्मोही दीपचन्द्र, 1986, धर्म और संस्कृति, अलंकार प्रकाशन, जयपुर।

मुनि, आचार्य देवेन्द्र. 1997. धर्म और जीवन. नई दिल्लीः यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स।

गुप्ता, नरेन्द्र नाथ. 1994. धर्मः एक जीवन विधि. नई दिल्लीः निर्मल पब्लिकेशन्स।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेजः ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि ० प्रा ० लि ०, नई दिल्ली।

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1- पुरूषार्थ क्या है। पुरूषार्थ के विभिन्न प्रकारों एवं समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए।

2- संस्कार का क्या तात्पर्य है ? संस्कारो के प्रकार एवं समाजशास्त्रीय महत्व को समझाइए।

3- संस्कार की परिभाषा दीजिए। सामाजिक जीवन में संस्कारों के महत्व की विवेचना कीजिए।

4- धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

इकाई 4- विविधता में एकता

Unity in Diversity in India

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 भारत में विविधता के रूप

4.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

4.2.2 भाषायी विविधता

4.2.3 प्रजातीय विविधता

4.2.4 धार्मिक विविधता

4.2.5 जातिगत विविधता

4.2.6 सांस्कृतिक विविधता

4.2.7 जनांकिकीय विविधता

4.3 भारत में एकता

4.3.1 धार्मिक एकता

4.3.2 भौगोलिक विविधता में एकता

4.3.3 भाषायी एकता

4.3.4 प्रजातीय एकता

4.3.5 राजनैतिक एकता

4.3.6 सांस्कृतिक विविधता में एकता

4.3.7 जातिगत एकता

4.3.8 ग्रामीण -नगरीय विविधता में एकता

4.4 सारांश

4.5 परिभाषिक शब्दावली

4.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

4.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

भारत एक विशाल देश है जिसकी भौगोलिक स्थिति में भारी विविधता और अनेकता दिखाई पड़ती है। अनेक मतों, विचारों, बोलियों, रंग-रूपों, पहनावों और विश्वासों के होते हुए भी आपस में मिल-जुल कर रहते हुए एकता की भावना को प्रकट करना ही विविधता में एकता को दर्शाता है। विविधता में एकता को बताने से पहले यह देखना जरूरी है कि, आखिर भारत में रहने वाले लोग किस प्रकार एक-दूसरे से अलग हैं ?

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपके द्वारा यह समझना संभव होगा:

- भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की जैसे धर्म, जाति, भाषा, प्रजाति आदि में विविधताओं को स्पष्ट करना,
- भारत में विविध भौगोलिक क्षेत्रों, धर्मों, जातियों, भाषाओं, और प्रजातिओं आदि में एकता के रूप को स्पष्ट करना।

4.2. भारत में विविधता के रूप

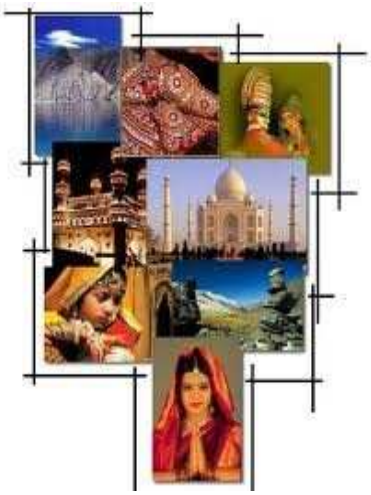

जैसा कि हम जानते हैं कि, भारतीय समाज की विभिन्नता को कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। हमारा देश भूमध्य गोलार्द्ध में स्थित है। उत्तर से दक्षिण तक भारतीय भूमि की लम्बाई 3,214 किलोमीटर और पूरब से पश्चिम तक यह 2,933 किलोमीटर है। इस प्रकार भारत का कुल क्षेत्र 32,87,263 वर्ग किलोमीटर है। भारतीय समाज और संस्कृति में हमें अनेक प्रकार की विविधताओं के दर्शन होते हैं, जिन्हें धर्म, जाति, भाषा, प्रजाति आदि में व्याप्त विभिन्नताओं के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।इन विभिन्नताओं को कुछ मुख्य बिन्दुओं में बाँटकर अब हम उन पर चर्चा करेंगे -

4.2.1 क्षेत्रीय या भौगोलिक विविधता

उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में अरूणाचल प्रदेश से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक अनेक भौगोलिक विविधतायें हैं। कश्मीर में बहुत ठंड है तो दक्षिण भारतीय क्षेत्र बहुत गर्म है। गंगा का मैदान है जो बहुत उपजाऊ है तथा इसी के किनारे कई प्रमुख राज्य, शहर, सभ्यता और उद्योग विकसित हुए। हिमालयी क्षेत्र में अनेक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल जैसे बद्रीनाथ, केदारनाथ तथा गंगा, यमुना, सरयू, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों का उद्गम स्थल है। देश के पश्चिम में हिमालय से भी पुरानी अरावली पर्वतमाला है। कहीं रेगिस्तानी भूमि है तो वहीं दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी घाट, नीलगिरी की पहाड़ियाँ भी हैं।यह भौगोलिक विविधता भारत को प्राकृतिक रूप से मिला उपहार है।

4.2.2 भाषायी विविधता

भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है, प्राचीन काल से ही भारत में अनेक भाषाओं व बोलियों का प्रचलन रहा है। वर्तमान में भारत में 18 राष्ट्रीय भाषाएँ तथा 1,652 के लगभग बोलियाँ पाई जाती हैं। भारत में रहने वाले लोग इतनी भाषाएँ व बोलियाँ इसलिए बोलते हैं। क्योंकि, यह उपमहाद्वीप एक लम्बे

समय से विविध प्रजातीय समूहों की मंजिल रहा है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को मुख्य रूप से चार भाषा-परिवारों में बाँटा जा सकता है।

i) **ऑस्ट्रिक परिवार**-इसके अर्न्तगत मध्य भारत की जनजातीय-पट्टी की भाषाएँ आती हैं जैसे- संथाल, मुण्डा, हो आदि।

ii) **द्रावीड़ियन परिवार**-तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गोंडी, आदि।

iii) **साइनो-तिब्बतन परिवार**- आमतौर पर उत्तर-पूर्वी भारत की जनजातियाँ।

iv) **इंडो-यूरोपियन परिवार**-भारत में सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषाएँ व बोलियाँ इण्डो आर्य-भाषा परिवार की हैं। जहाँ एक ओर पंजाबी, सिंधी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं वहीं दूसरी ओर मराठी, कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, हिन्दी-उर्दू, छतीशगढ , बंगाली, मैथिली, कुमाउंनी, गढ़वाली जैसी भाषाएँ व बोलियाँ बोली जाती हैं।

भारतीय संविधान की 8 वीं अनुसूची में केवल 18 भाषाएँ ही सूचीबद्ध हैं। यह भाषाएँ असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी, हिन्दी, नेपाली, कोंकणी और मणिपुरी हैं। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 343(2) के रूप में हिन्दी के साथ अंग्रेजी भाषा को भी सरकारी काम-काज की भाषा माना गया। सभी भाषाओं मे हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो 2001 की जनगणना के अनुसार सबसे ज्यादा लोग बोलते हैं अर्थात् 248 करोड़।

4.2.3 प्रजातीय विविधता

प्रजाति ऐसे व्यक्ति का समूह है जिनमें त्वचा का रंग, नाक का आकार, बालों के रंग के प्रकार आदि कुछ स्थायी शारीरिक विशेषताएं मौजूद होती हैं। भारत को प्रजातियों का अजायबघर इसीलिए कहा गया है क्योंकि, यहाँ समय-समय पर अनेक बाहरी प्रजातियाँ किसी-न-किसी रूप में आती रहीं और उनका एक-दूसरे में मिश्रण होता रहा। भारतीय मानवशास्त्री सर्वेक्षण के अनुसार देश की प्रजातीय स्थिति को सही तरह से समझ पाना कठिन है। प्रजाति व्यक्तियों का ऐसा बड़ा समूह है जिसकी शारीरिक विशेषताओं में बहुत अधिक बदलाव न आकर यह आगे की पीढ़ियों में चलती रहती हैं। संसार में मुख्यतः 3 प्रजातियाँ काकेशायड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड पाई जाती हैं। सरल शब्दों में इन्हें

हम ऐसे मानव-समूह के नाम से सम्बोधित करते हैं जिनके शरीर का रंग सफेद, पीला तथा काला हो। भारतीय समाज में शुरू से ही द्रविड़ तथा आर्य, प्रजातीय रूप से एक-दूसरे से अलग थे। द्रविड़ों में नीग्रॉयड तथा आर्यों में कॉकेशायड प्रजाति की विशेषताएं अधिक मिलती थीं। बाद में शक, हूण, कुषाण व मंगोलों के आने पर मंगोलॉयड प्रजाति भी यहाँ बढ़ने लगी व धीरे-धीरे यह सभी आपस में इतना घुल-मिल गईं कि, आज हमें भारत में सभी प्रमुख प्रजातियों के लोग मिल जाते हैं।

4.2.4 धार्मिक विविधता

भारत में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक रूपों तथा सम्प्रदायों के रूप में वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, नानक पन्थी, आर्यसमाजी आदि अनेक मतों के मानने वाले अनुयायी मिलते हैं। इस्लाम धर्म में भी शिया और सुन्नी दो मुख्य सम्प्रदाय मिलते हैं। इसी प्रकार सिक्ख धर्म भी नामधारी और निरंकारी में, जैन धर्म दिगम्बर व श्वेतांबर में और बौद्ध धर्म हीनयान व महायान में विभक्त है। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है ,जहाँ सभी को अपने-अपने धर्म का आचरण व पालन करने की छूट मिली है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में हिन्दू धर्म के अनुयायी सबसे ज्यादा अर्थात् 81.92 प्रतिशत, मुस्लिम धर्म के 12.29 प्रतिशत, इसाई धर्म के 2.16 प्रतिशत, सिक्ख धर्म 2.02 प्रतिशत, बौद्ध धर्म 0.79 प्रतिशत जैन धर्म के 0.40 प्रतिशत तथा अन्य 0.42 प्रतिशत हैं। इस प्रकार सभी धर्मों के लोगों की उपस्थिति को यहाँ देखकर यह कहा जा सकता है कि, देश की धार्मिक संरचना बहुधर्मी है।

4.2.5 जातिगत विविधता

'पीपल ऑफ इण्डिया' के अनुसार भारत में लगभग 4,635 समुदाय हैं। यह भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है जो और कहीं नहीं पायी जाती। यह व्यक्ति को जन्म के आधार पर एक समूह का सदस्य मान लेता है, जिसके अन्तर्गत समूह अपने सदस्यों के खान-पान, विवाह और व्यवसाय, सामाजिक सम्बन्धों हेतु कुछ प्रतिबन्धों को लागू करता है। आज बाहरी प्रजातियाँ भी हमारी जातियों में ही समाहित हो गई हैं, यह इस व्यवस्था की व्यापकता को ही दर्शाता है। यद्यपि कई विचारकों जैसे

के॰ एम॰ पणिक्कर और ईरावती कर्वे ने माना है कि जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को खण्ड-खण्ड में बाँट दिया है।

4.2.6 सांस्कृतिक विविधता

भारतीय संस्कृति में हम प्रथाओं, वेश-भूषा, रहन-सहन, परम्पराओं, कलाओं, व्यवहार के ढंग, नैतिक-मूल्यों, धर्मो , जातियों आदि के रूप में भिन्नताओं को साफ तौर से देख सकते हैं। उत्तर-भारत की वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन आदि अन्य प्रान्तों यथा दक्षिण, पूर्व व पश्चिम से भिन्न हैं। नगर और गांवों की संस्कृति अलग है, विभिन्न जातियों के व्यवहार के ढंग, विश्वास अलग हैं। हिन्दुओं में एक विवाह तो मुस्लिमों में बहुपत्नी-प्रथा का चलन है, देवी-देवता भी सबके अलग-अलग हैं। भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 91 संस्कृति क्षेत्र हैं। गांवो में संयुक्त परिवार प्रथा तथा श्रमपूर्ण जीवन है तो शहरों में एकांकी परिवार है। अतः स्पष्ट है कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक विविधताएँ लिए हैं।

4.2.7 जनांकिकीय विविधता

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ से अधिक थी जो आज 121 करोड़ तक पहुँच चुकी है। देश के विभिन्न राज्यों में जनसंख्या में बहुत विविधता मिलती है। उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का कुल 16.17 प्रतिशत हिस्सा है तो उत्तर-पूर्वी राज्यों सिक्किम, मिजोरम, अरूणांचल प्रदेश, गोवा, मणिपुर आदि में कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग रहता है। दिल्ली में औसतन 9,294 लोग एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहते हैं तो वहीं अरूणांचल प्रदेश में इतने में 13 लोग रहते हैं। साक्षरता की दृष्टि से भारत का अध्ययन करने पर चलता है कि,सबसे कम साक्षरता बिहार में 47 प्रतिशत तथा सबसे अधिक लोग 99.1 प्रतिशत केरल मे साक्षर हैं।

देश में 6.78 करोड़ के लगभग विभिन्न जनजातियों के लोग रहते हैं जिनकी जीवन शैली बिल्कुल अलग है। कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े वर्गों की जनसंख्या 47 प्रतिशत है।

बोध-प्रश्न 1

I) भारत को प्रजातियों का अजायबघर कहा गया है, उक्त पंक्तियों में यह स्पष्ट कीजिए?

.....
.....
.....
.....
.....

ii) भारतीय भाषायी परिवार को कितने भागों में विभक्त किया गया है, यह पाँच पंक्तियों में उल्लेख कीजिए?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

4.3 भारत में एकता

भारतीय इतिहास के सभी कालों में देखा गया है कि ,भारत में सभी समूहों के लोगों ने पारस्परिक सौहार्द्र को बनाए रखा और एक ऐसी समन्वयकारी संस्कृति को बनाया जो कि, अनेक धर्मों, जातियों, भाषा-भाषी लोगों को आपस में एक धागे में पिरोए रखती है। प्रख्यात मानवशास्त्री हरबर्ट रिज़ले के अनुसार "शारीरिक भिन्नताओं, सामाजिक विभेदों, रीति-रिवाजों और धर्मो की विभिन्नता के बाद भी भारतीय समाज में एक आश्चर्यजनक एकता मौजूद है जिसे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक आसानी से देखा जा सकता है"। इसका प्रमुख कारण भारतीय संस्कृति का लचीला दृष्टिकोण है जिसने सभी संस्कृतियों के साथ इतना अच्छा सामंजस्य स्थापित कर लिया कि, वह सभी समय के साथ भारतीय संस्कृति का ही अभिन्न अंग बन गई। भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने में अनेक भारतीय राजाओं, हिन्दू और मुस्लिम सन्तों तथा समाज सुधारकों ने

महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यही कारण है कि बाहरी तौर पर भले ही इतनी भिन्नताओं के दर्शन होते हैं, पर फिर भी इन सबके बीच भारतीय संस्कृति में एक मौलिक एकता मिलती है, जो कि भारतीय संस्कृति का प्राण मानी जा सकती है। भारतीय संस्कृति और समाज में विविधता में एकता को निम्नलिखित कारकों द्वारा हम यहाँ पर और स्पष्ट करेंगे -

4.3.1 धार्मिक विविधता में एकता

भारतीय समाज की यह अनुपम विशेषता है कि, यहां सभी धर्मो के मानने वाले साथ-साथ रहते हैं और एक-दूसरे की विशेषताओं को ग्रहण करते हैं। एक ही स्थान पर मन्दिर, मस्जिद, गिरिजाघर, गुरूद्वारा होता है, जहाँ वह अपने धर्मानुसार पूजा करते हैं। सभी धर्मों के लोग होली, दीपावली, बुद्ध-पूर्णिमा, गुरू नानक जयन्ती, ईद, क्रिसमस को मनाते हैं और आपस में मिल-जुल कर साथ-साथ आनन्द लेते हैं। भारत में कुछ ऐसे धर्मस्थल हैं जो पूरे देश को एकता की कड़ी में बाँधते हैं। पूर्व में जगन्नाथपुरी तो पश्चिम में द्वारिका, उत्तर में बद्रीनाथ तो दक्षिण में रामेश्वरम् भारत की एकता का ठोस प्रमाण है। राम तथा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन पूरे भारत में किया जाता है। ऊपरी तौर पर सभी धर्म भले ही अलग लगें पर सभी की मूल बातें एक ही हैं। सभी धर्म नैतिकता, दया, ईमानदारी, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, सत्य, अहिंसा, अध्यात्म में विश्वास रखते हैं। भारत का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप इसकी एकता का सबसे बड़ा कारण माना जा सकता है।

4.3.2 भौगोलिक विविधता में एकता

भारत उष्ण और समशीतोष्ण कटिबन्धों की जलवायु का प्रदेश है। यहाँ एक ही समय पर अलग-अलग भागों में सभी ऋतुओं की जलवायु मिलती है। चेरापूंजी में सालभर लगभग 600'' वर्षा होती है तो वहीं राजस्थान के थार-मरूस्थल में 5'' से भी कम वर्षा होती है। कोई प्रदेश बहुत उपजाऊ है तो कुछ कम, तो कुछ बंजर भी है। परन्तु यह विभिन्नताएं सबको विभिन्न माध्यमों द्वारा आपस में जोड़ती भी हैं। गंगा, यमुना, कावेरी, नर्मदा, गोदावरी देश के अनेक भागों और उनके रहने वालों को आपस में जोड़ती हैं। विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु में उगी वनस्पतियां और खाने का सामान सारे देश में मिलता है। पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोग मैदान से आने वाले पदार्थों तथा मैदान के निवासी पहाड़ से आने वाली कई वस्तुओं पर आश्रित हैं। देश की प्राकृतिक सीमाओं ने इसे अन्य देशों से अलग कर एक साथ रहने को प्रेरित किया है।

4.3.3 भाषायी विविधता में एकता

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इसीलिए भारतीय संविधान में 18 भाषाओं को मान्यता दी गई है। इतनी भाषाओं का प्रचलन होते हुए भी उनका मूल संस्कृत भाषा में होने के कारण सभी में एकरूपता पाई जाती है। भारत में वैदिक युग से लेकर ईसा के 400 साल पहले तक संस्कृत ही मुख्य भाषा थी। लगभग 2,200 वर्ष पहले संस्कृत से ही पाली भाषा निकली। हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती, असमी, उड़िया तथा पंजाबी भाषाओं को भी संस्कृत का स्थानीय रूप माना गया है। तमिल, तेलुगू, कन्नड़ को भी इसने प्रभावित किया है। इसी कारण सभी की वर्णमाला लगभग एक-सी ही है। उर्दू भाषा को भी फारसी और संस्कृत का मेल माना गया है। विलियम के कथनानुसार "भारत में यद्यपि 500 से भी अधिक भाषाएँ और बोलियाँ पाई जाती हैं लेकिन यहाँ का सम्पूर्ण साहित्य, सामाजिक-मूल्य तथा नैतिकता संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य से ही प्रभावित हैं।" भाषा की यही समानता सभी को एकता के सूत्र में बांधे हुये है।

4.3.4 प्रजातीय एकता

भारत में अनेक प्रजातियां आईं तो अवश्य परन्तु अब सभी यहाँ मिश्रित रूप में मिलती हैं। यहाँ उत्तरी भारत में आर्य प्रजाति और दक्षिणी में द्रविड़ प्रजाति की बहुलता है। भारत में संसार की तीन प्रमुख प्रजातियों तथा उनकी उपशाखाओं (सफेद, पीले और काले) के लोग दिखाई देते हैं, जोकि भारत की सभी जगहों में पाए जाते हैं। अतः भारतीय संस्कृति विभिन्न प्रजातीय विशेषताओं से युक्त लोगों के मिश्रित समूह का प्रतिनिधित्व करती है।

4.3.5 राजनैतिक एकता

आजादी के पहले भारत में विभिन्न राज्यों और शासकों का अधिकार था। पर आजादी मिलने के बाद सारा देश एक ही सत्ता के आधीन हुआ और देश में प्रजातन्त्रात्मक शासक का प्रारम्भ हुआ जिसका अर्थ था "जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिए"। विभिन्न प्रान्तों के द्वारा एक भारतीय संघ का निर्माण हुआ है। भारतीय संसद में सभी क्षेत्रों, धर्मों और जातियों के लोगों को प्रतिनिधित्व करने का अवसर मिला है। सरकार द्वारा जो भी कानून बनाया जाता है वह सभी के लिए एक समान होता है। समाज के दुर्बल और निम्न वर्गों के लिए योजना बनाना, महिलाओं के लिए पंचायत में आरक्षण कर एक-तिहाई भाग उनके लिए सुरक्षित करना, विकास योजनाओं को चलाना,

यह सब पूरे भारत के लिए किए जाता है। राजनीतिक दृष्टि से भारत एक इकाई है, इस बात को विदेशी आक्रमणों के समय सभी भारतीयों के एक होकर लड़ने ने सही सिद्ध किया है।

4.3.6 सांस्कृतिक विविधता में एकता

भारत के सभी लोग चाहे वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख, इसाई, पारसी किसी भी संस्कृति-धर्म के अनुयायी हों, सभी एक ही रंग में रंग गए हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत पूरे देश में रूचिपूर्वक सुना जाता है। उत्तर-भारत में दक्षिण भारतीय भोजन बड़े चाव से खाया जाता है तो दक्षिण में भी उत्तर के व्यंजन प्रसिद्ध हैं। भारतीय कला भी सांस्कृतिक एकता का उदाहरण है। कई मन्दिरों में मस्जिदों की तरह गोलाकार रचना और कई मस्जिदों में मन्दिरों की कला का प्रयोग मिलता है। मुस्लिमों में भी अब एक विवाह प्रचलित होने लगा है। सभी धर्मों के लोगों का आपस में धर्म, खान-पान के तरीकों, वस्त्र-शैली, भाषा एवं साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में व्यवहार और लेन-देन बढ़ा है जिसने सांस्कृतिक एकता को स्थापित किया है।

4.3.7 जातीय विविधता में एकता

भारत में अनेक जातियाँ रहती हैं जिनके अपने अलग आचार-विचार, प्रथाऐं-परम्पराऐं हैं। यह केवल हिन्दुओं में ही नहीं वरन् मुस्लिमों, सिखों, इसाईयों और जैनियों में भी प्रचलित है। एम॰ एन॰ श्रीनिवास के अनुसार "एक संस्था के रूप में जाति भारतीयों को एक सामान्य सांस्कृतिक आधार प्रदान करती है। भारत का प्रत्येक व्यक्ति जाति की परिधि में है तथा सभी धार्मिक समूहों में जाति-विभाजन पाया जाता है।"परन्तु यह बात भी सच है कि, सभी समुदायों में जाति-व्यवस्था के मौजूद होते हुए भी जातियों के बीच ऊँच-नीच और सामाजिक पाबन्दियों में बहुत तेजी से ढीलापन आता जा रहा है। यह सामाजिक एकता के लिए बहुत लाभदायक परिवर्तन है।

4.3.8 ग्रामीण -नगरीय विविधता में एकता

गांव और शहर का जीवन पहले से ही काफी अलग रहा है। जहाँ गावों में अधिकांश लोगों का प्रमुख रोजगार कृषि-कार्य था, परिवारों का स्वरूप संयुक्त था, महिलाओं का जीवन घरेलू कार्यों तक सीमित था तो वहीं नगरों और महानगरों में एक अलग ही प्रकार का माहौल था। नगर में उद्योग-धन्धों के खुलने के कारण यहाँ रोजगार का मुख्य जरिया व्यवसाय, उद्योग और नौकरी था। यह स्थिति काफी समय तक रही। परन्तु आज इसमें कुछ परिवर्तन होने लगा है। अब शहर कच्चे माल

और सस्ते श्रम की मांग के चलते तथा लोक-संस्कृति और कला की ओर आर्कषण के कारण गांवों की ओर देख रहे हैं तथा गांव की आर्थिक स्थिति में सुधार आने के कारण वह अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए शहर की ओर बढ़ रहा है। इस कारण नगर और गांव में एकीकरण हो रहा है।

उपरोक्त विवरण से इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है कि, भारत में प्राचीन-काल से ही अनेक परस्पर विरोधी संस्कृतियों, सभ्यताओं और प्रजातियों के समूहों का आना-जाना बना रहा। इसी प्रकार यहाँ रहते हुए वह सभी समूह अपने कुछ विचारों, विश्वासों और व्यवहार के साथ कुछ बिन्दुओं पर एकमत हुए और फिर धीरे-धीरे समय बीतने के साथ भारत का ही एक अभिन्न हिस्सा बन गए। इसकी समकालीन अन्य संस्कृतियां मिट गयीं पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता ने आज भी अपनी निरन्तरता को बनाए रखा है। यह निरन्तरता ही भारतीय संस्कृति और समाज की एकता का मुख्य आधार है। विनोबा भावे जी ने इस उदार और सहिष्णु संस्कृति की विशेषताओं को इस प्रकार कहा है कि, '' भारत में अनेक धर्म, भाषाएँ और जातियां हैं। यह महान् भूमि अनेक सामाजिक समूहों का संगम-स्थल रही है। इस प्रकार का महान् दृश्य अन्य कोई देश प्रस्तुत नहीं करता- जहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के उपासक और भिन्न-भिन्न जाति के लोग एक साथ बस गए हैं। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि सभी लोग भारत को अपना घर , अपना देश मानते हैं। ''

बोध-प्रश्न 2

I) निम्न में से कौन सी दशा वर्तमान भारतीय समाज में धार्मिक एकता का वास्तविक आधार है?

1. धर्मनिरपेक्षता
2. लोकतान्त्रिक व्यवस्था
3. विधि का शासन
4. विभिन्न धर्मों के त्यौहार

.....
.....
.....
.....

ii) भारतीय समाज में विविधता के बीच एकता का क्या आशय है? पांच पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

.....
.....

.....
.....
.....
.....
.....
.....

4.4 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में पाये जाने वाली विविधताओं को विभिन्न भाषाओं, धर्मों, संस्कृतियों, प्रजातियों, भौगोलिक और जनांकिकीय विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है। पहले यह बताया गया है कि भारत में पायी जाने वाली विविधताऐं किन-किन रूपों में विद्यमान हैं, उसके बाद इन सभी विविधताओं के बीच भारतीय समाज में देखी जा सकने वाली एकता की भावना को इन्हीं आधारों पर समझाया गया है। भारत देश में प्राचीन समय से ही अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, स्थानों और प्रजातियों के लोगों का आना-जाना बना रहा। कालान्तर में इनमें से कई जातियाँ, संस्कृतियाँ यहीं रच-बस गईं और धीरे-धीरे यहाँ के वातावरण और संस्कृति में एकाकार होकर एक नई मिली-जुली संस्कृति का रूप ले लिया। आज भारत में जो लोग निवास कर रहे हैं, उनकी अलग-अलग बोलियाँ-भाषाऐं हैं, अलग धर्म-संस्कृति है, अलग नस्ल-प्रजातियाँ हैं और भिन्न मान्यताऐं, रिवाज़, प्रथाऐं,, मत और विश्वास हैं। परन्तु इतनी भिन्नताओं के होने पर भी यह कहा जा सकता है कि, यह सभी एक भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं, एक ही माला के अलग-अलग फूल हैं जो एक ही धागे में पिरोये हुए हैं।

4.5 परिभाषिक शब्दावली

विविधता- इसका अर्थ सामूहिक अंतर है। समूहों और संस्कृतियों की विविधता ही विभिन्नता है।

जाति- एक वंशानुगत, अंतर्विवाही प्रस्थिति समूह जिसका एक विशिष्ट पारंपरिक पेशा होता है।

एकता- समाज के सदस्यों को आपस में जोड़कर रखने वाली भावना।

प्रजाति- समान आनुवांशिक और जैविकीय विशेषता वाले मनुष्यों का वह वर्ग जो उन्हे दूसरे वर्ग से अलग करता है।

मत- वह धार्मिक समूह है जो स्थापित धर्म संस्था द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत की व्याख्या से विरोध रख एक सुनिश्चित धारणा के साथ चलना।

4.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध-प्रश्न 1

i) विद्यार्थी को इस प्रश्न के उत्तर में प्रजातीय विविधता शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण को लिखना है।

ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न के उत्तर में भाषायी विविधता शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण को लिखना है।

बोध-प्रश्न 2

i) 1. धर्मनिरपेक्षता

ii)2. विद्यार्थी को इस प्रश्न के उत्तर में भारत में एकता शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण को लिखना है।

4.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

मुकर्जी ,रविन्द्रनाथ ,1989, भारतीय समाज व संस्कृति, विवेक प्रकाशन, नई दिल्ली।

हसनैन, नदीम. 2005. समकालीन भारतीय समाजः एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य. भारत बुक सेन्टर. लखनऊ.

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन.(संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मजूमदार एम. टी., 1979, इंडियन रिलीजियस हेरीटेजः ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, एलाइड पब्लि ० प्रा ० लि ०, नई दिल्ली।

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1- भारतीय समाज में धार्मिक, प्रजातीय तथा भाषायी विविधताओं की प्रकृति का वर्णन कीजिए।

2- भारतीय समाज विविधता में एकता को प्रदर्शित करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिए।

इकाई 5- विवाह

Marriage

इकाई की रुपरेखा

5.0 परिचय

5.1 उद्देश्य

5.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएँ

5.3. विवाह का उद्देश्य

5.4 विवाह के प्रकार

5.4.1 एक विवाह

5.4.2 बहु विवाह

5.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत

5.6 विवाह से सम्बध्ति नियम

5.7 विवाह के अन्य स्वरूप

5.7.1 हिन्दू विवाह

5.7.2 मुस्लिम विवाह

5.7.3 ईसाई विवाह

5.8 सारांश

5.9 परिभाषिक शब्दावली

5.10 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

5.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.13 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 परिचय

विवाह मानव समाज की मूल्य संस्था है। जो व्यक्ति तथा परिवार के जीवन को एक विशेष ढंग से प्रभावित करके सामाजिक व्यवस्था को एक विशेष रूप प्रदान करती है। विवाह की संस्था यौन संबंधो को स्वीकृति और उससे उत्पन संतान को वैधता प्रदान करता है वास्तव में विवाह पति –पत्नी के बीच स्थापित होने वाला एक सामान्य संबंध ही नहीं बल्कि यह एक सामाजिक –सांस्कृतिक संस्था है। आदिम से लेकर आधुनिक तक सब समाजो में विवाह की संस्था है परन्तु अलग –अलग समाजो में भिन्नता पाई जाती है भारत में प्रत्येक धार्मिक समुदाय, सांस्कृतिक क्षेत्र और जनजातीय समुदाय में विवाह का विशिष्ट स्वरूप है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यन के उपरांत आप विवाह के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा विवाह के विभन्न प्रकार व इसके सिद्धांत के बारे में भी ज्ञान अर्जित कर सकेंगे

5.2 विवाह का अर्थ एवं परिभाषाएँ

विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रायः सभी समाजों में पायी जाती है, अंतर सिर्फ इसके स्वरूप को लेकर है। किसी-किसी समाज में विवाह यौन संतुष्टि के लिये नहीं किया जाता बल्कि संपत्ति के बँटवारे को रोकने के लिये भी किया जाता हैं उदाहरण के लिए नागा जनजाति में पुत्रा द्वारा सगी माँ को छोड़कर पिता की अन्य विध्वा पत्नियों से विवाह।

लूसीमेयर के अनुसार विवाह स्त्री पुरूष का ऐसा योग है जिससे जन्मा बच्चा माता-पिता की वैध् संतान माना जाता है।

बोगार्डस के अनुसार 'विवाह स्त्री पुरूष का पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की संस्था है।

मजदूर एवं मदन के अनुसार विवाह संस्था में कानूनी या धर्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषम लिंगियों की यौन क्रिया और उससे संबंध्ति सामाजिक आर्थिक संबंधें में सम्मिलित होने का अध्किार प्रदान करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एक सामाजिक संस्था है। यह दो विषम लिंगी व्यक्तियों को यौन संबंध् स्थापित करने के अध्किार प्रदान करती है। विवाह संबंध् बहुत ही व्यापक होते हैं। इनमें एक-दूसरे के प्रति भावात्मक लगाव, प्रतिबता, देखभाल, सहायता व एक-दूसरे को निरंतरसहारा देना सम्मिलित है। विवाह के पश्चात् उत्पन्न संतान को ही वैध् माना जाता है।

5.3 विवाह का उद्देश्य

मुर्डाक ने विश्व के 250 समाजों के अध्ययनोपरांत विवाह के तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया-

- ❖ यौन संतुष्टि
- ❖ आर्थिक सहयोग
- ❖ संतानों का समाजीकरण एवं लालन-पालन

5.4 विवाह के प्रकार

विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले विवाह क स्वरूपों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

5.4.1 एक विवाह-

एक विवाह में एक समय में एक पुरूष एक ही स्त्री से विवाह करता है। वर्तमान में एक विवाह को विवाह का सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। वेस्टमार्क ने 'एक विवाह को ही विवाह का आदि स्वरूप माना है।'

एक विवाह दो प्रकार का होता हैः-

क्रमिक एक विवाहः- इस प्रकार के विवाह में एक समय में पुरुष का एक ही स्त्री से ही संबंध होता है परन्तु वह किसी एक को छोड़कर या मृत्यु के बाद दूसरे से विवाह कर लेता है।

एकल विवाहः- एकल परिवार में केवल एक स्त्री का विवाह एक ही पुरूष से होता है। किसी एक की मृत्यु के बाद भी वह दूसरा विवाह नहीं करते।

5.4.2 बहुविवाह

जब एकाध्कि पुरूष अथवा स्त्रियाँ विवाह बंध्न में बँध्ते हैं तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहते हैं। बहु-विवाह के प्रमुख चार रूप पाये जाते हैं।

(क) बहुपति विवाह - एक स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह बहुपति विवाह कहलाता है। बहुपति विवाह के भी दो रूप पाये जाते हैं।

(i) **भ्रातृक बहुपति विवाह (Fraternal Polyandry)**- इस प्रकार के विवाह में पति आपस में भाई होते हैं उदाहरणस्वरूप- खस, टोडा एवं कोटा जनजाति।

(2) **अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non Fratternal Polyandry)**- इस प्रकार विवाह में पति आपस में भाई नहीं होते हैं जैसे- नाया।

वैस्टरमाके के अनुसार लिंग, अनुपात का असंतुलित होना ही बहुपति विवाह का कारण हैं। समनर कनिंघम एवं डॉ. सक्सेना बहुपति विवाह के लिये गरीबी को मुख्य कारण मानते हैं।

(ख) **बहुपत्नी विवाह (Polygamy)**- ऐसा विवाह जिसमें एक पुरूष एकाध्कि स्त्रियों से विवाह करता है। उदाहरणस्वरूप- नागा, गोंड, बैगा, भील, टोडा, लुशाई, नम्बूद्री ब्राह्मण में ऐसा विवाह पाया जाता हैं। यह भी विभिन्न प्रकार के होते हैं।

(1) **द्वि-पत्नी विवाह(Biogamy)** - इस प्रकार के विवाह में एक पुरूष एक साथ दो स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री के संतान न होने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है जैसे- आरगेन व एस्किमो जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है।

(2) **समूह विवाह (Group Marriage)** - समूह विवाह में पुरूषों का एक समूह स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह कपल प्रत्येक पुरूष समूह को प्रत्येक स्त्री का पति होता है। विवाह की प्रारंभिक अवस्था में यह स्थिति रही होगी, ऐसी उद्विकासवादियों की धरणा है।

अध्मिान्य विवाहः-

इसमें जीवन साथी क चुनाव के लिए किसी एक समूह को वरीयता दी जाती है अर्थात् व्यक्ति को पहले से ही यह पता होता हे कि उसे अपना जीवनसाथी किस समूह से प्राप्त करना है। अध्मिान्य विवाह मुख्यतः तीन प्रकार का होता है-

(1) **सहोदरज विवाह (Cousin Marriage)**- एक ही भाई बहिन के संतानों के बीच होने वाला विवाह सहोदरज विवाह कहलाता है। यह प्रमुखतः दो प्रकार का होता है-

(क) **सलिंग सहोदरज विवाह (Parallel Cousin Marriage)**- एक ही लिंग की सहोदरजों की संतानों ;चचेरे-मौसेरे भाई बहिनद्ध के बीच होने वाले विवाह को सलिंग सहोदरज विवाह कहते हैं। लेवी स्ट्रास इस प्रकार क विवाह का उल्लेख करते हैं। यह प्रमुखतः अरब लोगों तथा मुस्लिम ध्र्मावलंबियों में पाया जाता है।

(ख) **विलिंग सहोदरज विवाह (Cross Cousin Marriage)** टायलर द्वारा इस प्रकार के विवाह का उल्लेख किया गया है जिसमें विषमलिंगी सहोदरों की संतानों ;ममेरे-पफुपफेरे, भाई-बहनद्ध क बीच विवाह होता है। इस प्रकार के विवाहों के दो प्रमुख रूप प्रचलित हैं। पिता की बहन ;बुआद्ध के लड़के और माँ के भाई ;मामाद्ध की लड़की के बीच वरीयता दिए जाने वाले विवाह को 'मातृपक्षीय' विलिंग सहोदरज विवाह कहा जाता है। इसके विपरीत, जहाँ माँ के भाई ;मामाद्ध के लड़के और बूआ की लड़की के बीच विवाह को वरीयता दी जाती है तो यह पितृपक्षीय विलिंग सहोदरज विवाह कहलाता हैं।

(2) **देवर विवाह/भाभी विवाह (Levirate)**- इसमें मृतक पति के छोटे भाई से विवाह सम्पत्रा होता है। भारतीय समाज में निम्न जातियों में विशेषकर पश्रिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा के अहिर जाति में यह प्रचलित है। खरिया, संथाल जनजाति में भी यह विवाह पाया जाता है।

(3) **साली विवाह (Sororate)**- इसमें मृतक पत्नी की बहिन से विवाह होता है। कभी-कभी अपवाद स्वरूप संतान प्राप्ति के लिए भी इस प्रकार का विवाह होता है। गोंड व खरिया में विशेष रूप से प्रचलित है।

बोध प्रश्न 1.

(i) एक ही भाई बहिन के संतानों के बीच होने वाला विवाह कोन सा विवाह कहलाता है .....

(ii) किस विवाह में पुरुष का एक समय में एक ही स्त्री से ही संबंध होता है परन्तु वह किसी एक को छोड़कर या मृत्यु के बाद दूसरे से विवाह कर लेता है.....
.....

5.5 विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत

मैकाइवर का कहना है कि उत्पत्तियाँ सदैव अस्पष्ट होती हैं। इसके बारे में सिपर्फ अनुमान या कल्पना ही की जा सकती है। विवाह की उत्पत्ति के संबंध् मं निम्न विचार प्रचलित हैं-

(i) मार्गन का उद्विकसीय सिद्धांत

मार्गन का मत है कि विवाह संस्था का विकास हुआ है। समाज की प्रारंभिक अवस्था में विवाह नामक संस्था का अभाव था। प्रारंभ में समाज में यौन साम्यवाद की स्थिति थी। पुरूष को किसी भी स्त्री से यौन संबंध् स्थापित करने की स्वतंत्राता थी। धीरे-धीरे मानव समाज के विकास के साथ ही विवाह संस्था का क्रमिक विकास हुआ है जिसकी मुख्य निम्न अवस्थाएँ हैं।

- समूह विवाह
- सिण्डेस्मियन विवाह
- व्यवस्थित विवाह

बैकोपफन ने विवाह की उत्पत्ति की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया हैं-

- बहुपति विवाह
- बहुपत्नी विवाह
- एक विवाह

(ii) वेस्टमार्क का सिद्धांत

वेस्टमार्क का कहना है कि मनुष्य पशु से भित्रा होता है। मनुष्य में अपनत्व एवं ईर्ष्या की भावना पायी जाती है, इसलिए जिसके साथ वह एक बार यौन संबंध् स्थापित कर लेता था तो उसको अपना मानता था। इसलिए एक विवाह मानव समाज में विवाह का स्थायी रूप था और है। बहुपति या बहुपत्नी विवाह तो केवल वैवाहिक आदर्शों का उल्लंघन मात्रा है।

5.6 विवाह से सम्बंधित नियम

प्रत्येक समाज मे विवाह से संबंध्ति कुछ नियम पये जाते हैं। जीवन साथी के चुनाव के दौरान तीन बातों का ध्यान रखा जाता है-

(1) चुनाव का क्षेत्रा

(2) चुनाव का पक्ष

(3) चुनाव की कसौटियाँ

हिन्दू विवाह से संबंध्ति नियमों को हम चार भागों मं बाँट सकते हैं-

(1) **अंतर्विवाह (Endogamy)**- अंतर्विवाह का तात्पर्य है, एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करें। यह समूह अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग हो सकता है। डॉ. रिवर्स के अनुसार ''अंतर्विवाह से अभिप्राय उस विनिमय से है जिसमें समूह में ही विवाह साथी चुनना अनिवार्य होता है''

(2) **बहिर्विवाह (Exogamy)**- बहिर्विवाह से तात्पर्य है एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। डॉ. रिवर्स के शब्दों में, ''बहिर्विवाह से बोध् होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवन-साथी ढूँढे।''

हिन्दुओं में प्रचलित बहिर्विवाह के स्परूप निम्न हैं-

(क) **गोत्रा बहिर्विवाहः**- हिन्दुओं में सगोत्रा विवाह निषेध् है। गोत्रा का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ऋषि पूर्वज से हुई है। गोत्रा शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे- गौशाला, गाय का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे में या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्रा का शाब्दिक अर्थ गोत्रा अर्थात् गायों के बाँध्ने का स्थान। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँध्ती थी, उनमें नैतिक संबंध् बन जाते थे और संभवतः वे रक्त संबंधी भी होते थे। अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 द्वारा वर्तमान में सगोत्रा बहिर्विवाह से प्रतिबंध् हटा दिया गया है, किन्तु व्यवहारों में आज भी इसका प्रचलन है।

(ख) **सप्रवर बहिर्विवाह (Sapravar Exogamy)**- समान पूर्वज एवं समान ऋषियों के नामों का उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक ही प्रवर सम्बर्द मानते हैं। एक प्रवर में विश्रास करने वाले विवाह नहीं करते। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा सप्रवार विवाह संबंधी निषेधें को समाप्त कर दिया गया है।

(ग) **सपिण्ड बहिर्विवाह (Spinal Exogamy)** इरावती कर्वे सपिण्डता का अर्थ बताती हैं- जैसे सपिण्ड अर्थात् मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले या उसके रक्तकरण से संबंध्ति लोग। मिताक्षरा के अनुसार वे सभी जो एक ही शरीर से पैदा हुए हे। सपिण्डी हैं। वशिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर पाँच, गौतम ने पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छः पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबंध् लगाया है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने सपिण्ड बहिर्विवाह को मान्यता प्रदान की है। माता एवं पिता दोनों पक्षों से तीन-तीन पीढ़ियों के सपिण्डियों में परस्पर विवाह पर रोक लगा दी गयी है। फिर भी यदि किसी समूह की प्रथा अथवा परंपरा इसे निषेद्ध नहीं मानती है तो ऐसा विवाह भी वैध् माना जाएगा।

(घ) **ग्राम बहिर्विवाह**(Village Exogamy)- ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी कापफी प्राचीन है। पंजाब एवं दिल्ली में उस गाँव में भी विवाह वर्जित है जिसकी सीमा व्यक्ति के गाँव से मिलती है।

(ड) **टोटम बहिर्विवाह** (Totem Exogamy)- इस प्रकार का नियम जनजातियों में प्रचलित है। टोटम कोई भी एक पशु, पक्षी, पेड़, पौध अथवा निर्जीव वस्तु हो सकती है जिसे एक गोत्रा के लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं, उससे आध्यात्मिक संबंध् जोड़ते हैं। टोटम पर विश्रास करने वाले लोग परस्पर भाई-बहिन समझे जाते हैं, अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते।

(3) **अनुलोम विवाह** (Anuloma or Hypergamy)- जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्रा के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाए जिसका वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्रा लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह ही अनुलोम विवाह कहते हैं। अन्य शब्दों में, इस प्रकार के विवाह में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की।

(4) **प्रतिलोम विवाह** (Pratiloma or Hypogamy)- इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति तथा उपजाति या कुल की होती है जबकि लड़का निम्न वर्ण, जाति, उपजाति या कुल का होता है। कपाड़िया के शब्दों में, ''निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है।'' प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाली संतान की कोई जाति नहीं होती है। हिन्दू शास्त्रों ने इस प्रकार के विवाह को निषेद्ध ही नहीं माना है बल्कि इसका विरोध् भी किया है। ध्यातव्य है कि हिन्दू विवाह वैध्ता अधिनियम, 1949 एवं हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के द्वारा अनुलोम व प्रतिलोम विवाह दोनों को ही वैध् माना गया है।

बोध प्रश्न -2

(i) वह विवाह किया कहलाता है जिसमे में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की.....

(ii) अंतर्विवाह का तात्पर्य है, एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करे- **सत्य /असत्य.....**

5.7 विवाह के अन्य स्वरुप

5.7.1 हिन्दू विवाह

पश्चिमी समाजों से भित्रा हिन्दू समाज में विवाह को एक धर्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह के पश्चात् ही कोई हिन्दू धर्मिक क्रियाओं को करने का अध्किारी होता है। इसलिए हिन्दू विवाह का मुख्य उद्देश्य धर्मिक है। अतः एक हिन्दू के जीवन में विवाह की अत्यावश्यक माना गया है।

पी.एन.प्रभु का कहना है कि, ''हिन्दू विवाह एक संस्कार है'' (Hindu Marriage is a Sacrament) - **के.एम. कपाड़िया** भी कहते हैं कि, ''हिन्दू विवाह एक धर्मिक संस्कार है। यह पवित्रा समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जब यह पवित्रा मंत्रों के साथ किया जाए।''

हिन्दू विवाह के स्वरूप या प्रकारः-

मनु के अनुसार विवाह के आठ स्वरूप हैं जिनमें चार ;ब्रह्य, दैव, आर्ष, प्रजापत्यद्ध उच्चकोटि के जबकि चार ;असुर, गान्ध्र्व, राक्षस व पैशाय विवाहद्ध निम्न कोटि के माने जाते हैं। प्रथम चार विवाहों को प्रशस्ति ;श्रेष्ठ एवं ध्र्मानुसारद्ध व बाद के चार विवाहों को अप्रशस्ति ;निकृष्ट कोटि केद्ध विवाह की श्रेणी में रखा गया है। हिन्दू विवाह के स्वरूप निम्नलिखित हैं-

1. ब्रहय विवाहः- सुन्दर व गुणवान वर को अपने घर बुलाकर वस्त्रा आदि देकर कन्यादान करना ही ब्रह्य विवाह है। इस विवाह से उत्पत्रा पुत्रा इक्कीस पीढ़ियों को पवित्रा करने वाला होता है। वर्तमान समय में प्रचलित विवाह ब्रह्य विवाह का ही स्वरूप है।

2. दैव विवाहः- यह एक प्रतीकात्मक विवाह है जिसमें यज्ञ कराने वाले पुरोहित को कन्यादान दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे विवाह देवताओं के साथ होता है। इससे देवदासी प्रथा का जन्म हुआ, जो वेश्यावृत्ति का कारण माना जाता है। अतः इसका विरोध् किया जाने लगा है।

3. आर्ष विवाहः- आर्ष से तात्पर्य ऋषि से है। जब विवाह के लिए इच्छुक ऋषि द्वारा कन्या के पिता को एक जोड़ी बैल और एक गाय दिय जाती है। तब विवाह संपत्रा होता हें यह बधू मूल्य नहीं

है बल्कि पिता को इस बात का आश्रसन है कि वह जिसे अपनी पुत्री सौंप रहा है, वह उसका उचित निर्वाहन का सकेगा।

4. **प्रजापात्य विवाह**:- यह ब्रह्म विवाह के ही समान है लेकिन इसमें कन्या के पिता द्वारा वर वध् को आर्शीवाद देते हुए इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है- 'तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'

5. **असुर विवाह**:- यह एक निम्न कोटि का विवाह माना जाता है जिसमे कन्या का पिता कन्या का मूल्य लेकर विवाह करता है। इसे सामान्यतः बेटी बेचवा कहकर समाज में आलोचना की जाती है।

6. **गान्धर्व विवाह**:- यह प्रेम विवाह है जो आजकल नई पीढ़ी में देखने को मिलता है।

7. **राक्षस विवाह**:- युद्ध में स्त्री का हरण करके जब उससे विवाह किया जाता है, तो वह राक्षस विवाह कहलाता था। चूँकि यहाँ से प्रत्यक्ष सम्पर्क क्षत्रियों का था इस कारण इस प्रकार का विवाह विशेष रूप से क्षत्रियों के लिए था। इसलिए इसे 'क्षत्रिय विवाह' भी कहते हैं।

8**. पैशाच विवाह**:- मनु कहते हैं कि ''सोयी हुई उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापन की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़कों के साथ बलपूर्वक कृकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है'' यह विवाह सभी विवाहों में निम्नकोटि का विवाह है।

विवाह के परंपरागत स्वरूपों में आज केवल तीन प्रकार क विवाहों का ही प्रचलन है। ये हैं- ब्रह्म विवाह, असुर विवाह तथा गान्धर्व विवाह। ब्रह्म विवाह का प्रचलन सर्वाध्कि है जबकि गान्धर्व विवाह का उससे कम।

5.7.2 मुस्लिम विवाह

हिन्दुओं के विपरीत मुस्लिमों में विवाह को एक संविदा (Contract)माना जाता है तथा 'कुरान' इसका मुख्य स्त्रोत है। सामान्यतः मुस्लिमों में विवाह के लिए 'निकाह' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'लिंगों का मेल' (Union of sexes)है। इस्लामी वैधनिक मान्यताओं के अनुसार निकाह एक कानूनी संविदा है जिसका लक्ष्य पति-पत्नी के यौन संबंधें तथा उनकी संतान के संबंधें व उनके पारस्परिक अध्किारों तथा कर्त्तव्यों को वैध्ता प्रदान करना है।

डी.एपफ.मुल्ला (Principle of Muslim Law)- के अनुसार, ''निकाह को एक संविदा रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति और संतान को वैध्ता प्रदान करना है।''

मुस्लिम विवाह की संविदात्मक प्रकृति स्पष्ट होती है। मुस्लिम विवाह मुख्यतः एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक संबंधें और बच्चों के प्रजनन को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पत्रा संतानों के अध्किारों व कर्त्तव्यों को निर्धरित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है। संविदा में सामान्यतः तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं-

(1) दोनों पक्षों की स्वतंत्रा सहमति

(2) स्वीकृति के रूप में कुछ न कुछ पेशगी

(3) मुस्लिम विवाह में ये तीनों बातें आ जाती है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें-

मुस्लिम विवाह की कुछ प्रमुख शर्तें हैं-

- सही मस्तिष्क का व्यक्ति जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम न हो। संरक्षक की देखरेख में नाबालिक विवाह भी हो सकता है।
- निकाह के लिए दोनों पक्ष स्वतंत्रा हो।
- काजी के सामने निकाह का कबूलनामा इकरार होता है।
- निकाह में दो गवाहों का होना आवश्यक है। गवाहों के मामले में दो स्त्रियाँ एक पुरूष के बराबर मानी गयी हैं।
- विवाह के प्रतिपफल के रूप में मेहर की राशि निश्रित कर ली जाती है या भुगतान कर दिया जाता है।
- दोनों पक्ष निषेध संबंधे की अंतर्गत न आते हो।

5.7.3 ईसाई विवाह

हिन्दुओं के समान ईसाइयों में भी विवाह को एक पवित्रा बंध्न माना जाता है। एक पुरूष और एक स्त्री का पवित्रा मिलन ही विवाह है। ईसाईयों में विवाह के दो स्वरूप होते हैं- धर्मिक विवाह, तथा सिविल विवाह। धर्मिक विवाह में चर्च व पादरी की भूमिका प्रमुख होती है लेकिन अदालत से विवाह संपंत्रा होने के पश्चात् भी पादरी का आर्शीवाद प्राप्त किया जाता है। 1872 के भारतीय ईसाई विवाह अध्नियम के अनुसार, विवाह के लिए लड़के, लड़कियों की न्यूनतम आयु क्रमशः 16 वर्ष और 13 वर्ष होनी चाहिए ईसाइयों में अध्किांश विवाह धर्मिक विवाह ही होते है, जो गिरजाघर में संपत्रा किये जाते है।

ईसाई विवाह क मुख्य उद्देश्यः- ईसाई विवाह के दो मुख्य उद्देश्य हैं-

(1) यौन इच्छा की संतुष्टि

(2) संतानोत्पत्ति

ईसाइयों में विवाह-विच्छेद - ईसाइयों में विवाह विच्छेद को अच्छा नहीं माना जाता। पिफर भी ईसाइयों में तलाक;विवाह-विच्छेदद्ध 'भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम , 1869' (The Indian Divorce Act, 1869) द्वारा होता है। इस नियम का लाभ प्राप्त करने के लिए किसी एक पक्ष अर्थात् वर या वधू का ईसाई होना आवश्यक है। इस अधिनियम के अनुसार विवाह-विच्छेद की निम्न शर्तें हैं-

- पति ने ईसाई ध्र्म छोड़कर अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया है।
- पति ने दूसरा विवाह कर लिया है।
- पति ने बलात्कार या सौदेबाजी या पशुओं के साथ मैथुन किया हो।

5.8 सारांश

इस इकाई के माध्यम से आप ये जान सके की ,विवाह मानव समाज की मूल्य संस्था है जो व्यक्ति तथा परिवार के जीवन को एक विशेष ढंग से प्रभावित करके सामाजिक व्यवस्था को एक विशेष रूप प्रदान करती है विवाह की संस्था यौन संबंधो को स्वीकृति और उससे उत्पन संतान को वैधता प्रदान करता है वास्तव में विवाह पति –पत्नी के बीच स्थापित होने वाला एक सामान्य संबंध ही

नहीं बल्कि यह एक सामाजिक –सांस्कृतिक संस्था है. इस इकाई मैं विभन्न धर्मो की विवाह परम्परा का विस्तुत चित्रण प्रस्तुत किया गया विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो प्रायः सभी समाजों में पायी जाती है, अंतर सिर्फ इसके स्वरूप को लेकर है।

5.9 परिभाषिक शब्दावली

1.	**एक विवाह**	-	एक ही स्त्री से विवाह।
2.	**बहुपति विवाह**	-	एक स्त्री कई पति।
3.	**बहु पत्नी विवाह**	-	ऐसा विवाह जिसमें एक पुरूष एकाध्कि स्त्रियां से विवाह।
4.	**अध्मिान्य विवाह**	-	जीवन साथी के चुनाव के लिये किसी एक समूह को वरीयता।
5.	**देवर विवाह**	-	मृतक पति के छोटे भाई से विवाह।
6.	**अंत विवाह**	-	अपने समूह से जीवन साथी का चुनाव।
7.	**बहिविवाह**	-	अपने समूह से बध्र विवाह।

5.10 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(i) सहोदरज विवाह

(ii) क्रमिक एक विवाह

बोध प्रश्न -2

(i) अनुलोम

(ii) सत्य

5.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हेरोलम्बस, एम, समाजशास्त्रा थीम्स एण्ड प्रेसपेक्टिव, न्यू दिल्ली, आक्सपफार्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1989।
2. जांनसन, हेरी एम., समाजशास्त्रा ए सिस्टेमेटिक इनट्रोडक्सन, न्यू दिल्ली, ऐलाईड पब्लिर्सस, प्राइवेट लिमिटेड, 1983।
3. मर्डाक, जार्ज पी., सामाजिक संरचना, न्यूयार्क, मैक्मिलन, 1949।
4. पी.एच. प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।
5. पी. ओबेराय, पफेमिली मैरिज एण्ड किनशिप, आक्सपफार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, आक्सपफार्ड।
6. दुर्खीय, ईमाइल, एलीमेंट्री पफौम्स ऑपफ रिलिजियस लाइपफ, जार्ज.एलन एंड अनविन लि. लंदन, 1930।

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मदान टी. एन.(संपा) , 1991, रिलिजन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूिनवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

5.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. विवाह की विशेषताएँ एवं उद्देश्यों का वर्णन करो?
2. विवाह के प्रकार एवं विवाह की उत्पत्ति के सिद्धांत बताइएँ?
3. विभिन्न ध्र्मो के विवाहों का वर्णन कीजिए?

इकाई – 06 परिवार

Family

इकाई की रुपरेखा

6.0 परिचय

6.1 उद्देश्य

6.2 परिवार की अवधरणा एवं परिभाषाएँ

6.3 परिवार की विशेषताएँ

6.4 परिवार के प्रकार

6.5 परिवार के प्रकार्य

6.6 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

6.7 सारांश

6.8 परिभाषिक शब्दावली

6.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

6.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 परिचय

समाज की एक आधारभूत इकाई परिवार है, जो मानव के विकास के सभी स्तरो पर पायी जाती रही है, चाहे इसके रूप एवं प्रकार भिन्न-भिन्न क्यों न रहे हो, परिवार की समाज की वह इकाई है, जिसके

साथ व्यक्ति का संबंध जन्म से लेकर मृत्यु तक रहता है परिवार के द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है व परिवार के द्वारा ही उसे सुरक्षा मिलती है

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उदेश्य परिवार ,परिवार की विशेषताएं व परिवार के प्रकार तथा परिवार के प्रकार्य के बारे में पूर्ण जानकारी प्रदान करना है ताकि आप परिवार के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकेन.

6.2 परिवार की अवधरणा एवं परिभाषाएँ

परिवार सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधर स्तम्भ है, जिसका व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक महत्व है परिवार सामाजिक संग्ठन की एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक निर्माणक इकाई है। परिवार के द्वारा ही सामाजिक सम्बन्धें का निर्माण होता है, जो समाजशास्त्रा की मूल विषय वस्तु है। मानव में सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है जिसे पिरवार द्वारा वह पूरा करता है मैलिनोवस्की (Sex and Repression in savage society) कहते हैं कि ''परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।''

एल्मर अपनी पुस्तक 'Sociology of Family' में लिखते हैं कि 'Family' शब्द का उद्गम लैटिन शब्द 'Famulus' से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर व दास हों।'

परिवार एक ऐसी संस्था है जिसकी परिभाषा ऐसी नहीं दी जा सकती है जो सभी देश, कालों के परिवारों के लिये सही हो। इसका मूख्य कारण यह है कि परिवार के रूप एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। कहीं पर एक विवाह प्रथा मान्य है तो कहीं पर बहु विवाह। एक विवाह और बहु विवाह का प्रभाव परिवार पर पड़ता है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखते हुए डनलप महोदय ने कहा कि परविार की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती है।

परिवार को साधरणतया परिवार को एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें पति, पत्नी और उनके बच्चे पाये जात हैं तथा जिसमें इन बच्चों की देख-रेख तथा पति-पत्नी के अध्किार व कर्त्तव्यों का समावेश होता है।

(1) **मैकाइवर व पेज**- ''परिवार पर्याप्त निश्रित यौन संबंध् द्वारा परिभाष्ज्ञित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।''

(2) **लूसीमेयर के अनुसार**, ''परिवार एक गार्हस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और संतान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल में दंपत्ति और उसकी संतान रहती है।''

(3) **किंग्सले डेविस** के अनुसार,'' परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें सगोत्राता के संबंध् होते हैं और जो इस प्रकार एक-दूसरे के संबंधी होते हैं।''

(4) **बर्गेस व लॉक** के अनुसार, ''परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रक्त या दत्तक संबंध् से संबंध्ति होकर एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं, एवं एक दूसरे पर स्त्री-पुरूष, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन इत्यादि के रूप में प्रभाव डालते व अंतःक्रिया करते हुए एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं।''

ऑगबर्न और निमकॉफ - ''जब हम परिवार के बारे में सोचते हैं तो हमारे समक्ष एक ऐसी कम या अधिक स्थायी समिति का चित्र आता है । जिसमें पति एवं पत्नी अपने बच्चों के साथ या बिना बच्चो के रहते हैं । या एक ऐसे अकेले पुरूश या अकेली स्त्री की कल्पना आती है जो अपने बच्चो के साथ रहते हैं।'' परिवार को एक समिति मानते हुए ऑगबर्न और निमकॉफ ने इसे भिन्न लिंग व्यक्तियों के बीच होने वाले समझौते के परिणामस्वरूप सतानोत्पत्ति की सामाजिक वैधता के रूप में स्पश्ट किया है परिवार तब भी परिवार जब उसमें बच्चे नहीं हैं यह अकेली माता अथवा अकेले पिता के साथ बच्चों सहित भी परिवार ही है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परिवार जैविकीय संबंधें पर आधरित एक सामाजिक समूह है जिसमें माता-पिता और उनकी संतानें होती हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिये भोजन, प्रजनन, यौन सन्तुष्टि समाजीकरण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

इस प्रकार परिवार के निम्नलिखित पाँच तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है-

- स्त्री-पुरूष का यौन सम्बन्ध् (Mating relationship)
- यौन संबंधें को विधिपूर्वक स्वीकार किया जाता है।
- संतानों की वंश व्यवस्था (Reckoning of descent)
- सह निवास (Child & Rearing)

बोध 1.

i) ' Sociology of Family' नामक पुस्तक किसके द्वारा लिखी गए है .....

.....

6.3 परिवार की विशेषताएँ

- **सावैभौमिकता** - परिवार एक सार्वभौमिक इकाई है। परिवार हर समाज, हर काल, देश व परिस्थिति में पाये जाते हैं, चाहे इनका स्वरूप कुछ भी हो। समाज का इतिहास ही परिवार का इतिहास रहा है। क्योंकि जब से मानव का जन्म इस ध्रती पर हुआ है तभी से परिवार रहा है। चाहे पहले उसका स्वरूप भले ही कुछ राह हो।
- **भावात्मक आधर** - परिवार का आधर व्यक्ति की वे भावनाएं हैं जिनकी पूर्ति के लिये उसने परिवार का निर्माण किया है, जैसे राम, वात्सल्य, यौन, सहयोग, सहानुभूति इत्यादि।
- **सृजनात्मक प्रभाव** - व्यक्ति परिवार में ही जन्म लेता है और परिवार में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए परिवार व्यक्ति पर रचनात्मक प्रभाव डालता है। जिस प्रकार का परिवार होगा उसी प्रकार

व्यक्तियों के विचार व दृष्टिकोण निर्मित होंगे। मिट्टी के बर्तन के समान बच्चों के भविष्य का निर्माण परिवार में ही होता है।

- **सीमित आकार** - चूँकि परिवार के अन्तर्गत केवल वे ही व्यक्ति आते हैं जो वास्तविक या काल्पनिक रक्त संबंध् से होते हैं, इसलिए अन्य संगठनों की अपेक्षा इसका आकार सीमित होता है। किसी भी परिवार में दो-चार सौ सदस्य नहीं होते, क्योंकि जैसे बच्चे बड़े होते गये

उनका विवाह होता गया, पफलस्वरूप उन्होंने अलग परिवार बसाना प्रारम्भ किया, इस तरह से परिवार का आकार सीमित होता जाता है। आज संतति निरोध् द्वारा पारिवारिक आकार को और सीमित बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

- **सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति** - परिवार सामाजिक संरचना का केन्द्र बिन्दु है। जिसक आधर पर समाज की अन्य समस्त इकाइयों व सामाजिक संबंधें का निर्माण होता हैं। परिवार के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज का छोटा रूप परिवार और परिवार का विस्तृत रूप समाज है।
- **सदस्यों का उत्तरदायित्व** - परिवार का आकार सीमित है लेकिन सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। जबकि अन्य संगठन कृत्रिम है इसलिये उनके सदस्यों की जिम्मेदारी सीमित है। प्राथमिक समूह होने के नाते परिवार में इसके सदस्यों की जिम्मेदारी और कार्य बढ़ जाते हैं। परिवार में व्यक्ति को हर कार्य अपना समझकर करना पड़ता है।
- **सामाजिक नियंत्रण** - परिवार सामाजिक नियंत्राण की एक उचित विधि है। परिवार प्राथमिक समूह है, इस कारण परिवार व्यक्ति क व्यवहारों पर प्रत्यक्ष नियंत्राण रखता है परिवार सामाजिक नियंत्राण की अनौपचारिक साध्न ह जिसके द्वारा व्यक्ति वास्तविक रूप से नियंत्रित रहते हैं।
- **परिवार की अस्थायी एवं स्थायी प्रकृति** - परिवार की प्रकृति अस्थायी एवं स्थायी दोनों है। परिवार स्त्री-पुरूष का एक संगठन है। अगर परिवार को हम एक समिति के रूप में लेते हैं तो इसकी प्रकृति अस्थायी है, क्योंकि जैसे ही परिवार का कोई सदस्य अलग हुआ या उसकी मृत्यु हो गयी तो समिति नष्ट हो गयी। लेकिन इसके वाबजूद भी परिवार स्थायी है क्योंकि परिवार एक संस्था है जो कृत्रिम नहीं बल्कि वास्तविक है, जिनका आधर मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां है जो कभी नष्ट नहीं होती, इसलिए परिवार भी कभी नष्ट न होने वाली संस्था है।

6.4 परिवार के प्रकार

मानव समाज में कैसे विभित्रा प्रकार के परिवार पाये जाते हैं लेकिन सुविधा की दृष्टि से परिवार को छः आधरों सत्ता, वंश, उतराधिकार , निवास स्थान, विवाह तथा सदस्य संख्या या आकार पर विभाजित किया जाता है-

सत्ता या वंश उत्तराधिकार या निवास स्थान के आधर पर परिवार के दो भेद हैं-

(क) **पितृसत्तात्मक(Patriachal)** या **पितृवंशीय(Patrilineal)** या **पितृनामी(Patrimonai)** या **पितृस्थानीय(Patrilocal)** - परिवार भारत वर्ष में सामान्यतः इस प्रकार के परिवार प्रायः सभी सभ्य समाजों में पाये जाते हैं। कुछ जनजातीय समाजों में भी उदाहरण के लिये उड़ीसा की खरिया तथा मध्य प्रदेश की भील जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवार जाते हैं।

(ख) **मातृसत्तात्मक(Matriarchal)** या **मातृवंशीय(Matrilineal)** या **मातृनामी(Matrimonial)** या **मातृस्थानीय (Matrilocal)**- परिवार अध्कितर इस प्रकार के परिवार ब्रह्मपुत्रा के दक्षिणोत्तर की खासी, गारो जनजाति, केरल क नायर तथा दक्षिण भारत की इरूला, कादूर, पुलायन इत्यादि जनजातियों में पाये जाते हैं।

सदस्यों की संख्या के आधर पर परिवार को दो भागों में विभाजित किया जाता है-

(क) **मूल या केन्द्रीय परिवार** - इस प्रकार के परिवार में स्त्री -पुरूष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं। इसमें अन्य रिश्तेदारों का अभाव होता है, इसलिए इनका आकार छोटा होता हैं। इन्हें व्यक्तिगत परिवार कहते हैं।

(ख) **संयुक्त परिवार** - भारत में परिवार से तात्पर्य संयुक्त परिवार से है। संयुक्त परिवार से तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के अन्दर रहते हैं तथा उनकी सामान्य संपत्ति, सामान्य संस्कृति ; एवं सामान्य निवास होता है। संयुक्त परिवार को प्रायः तीन भागों मं बाँटा जाता है-

(क) **मिताक्षरा संयुक्त परिवार**:- बंगाल व असम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। इसमें पुत्रा के पिता की संपत्ति पर जन्म से ही अध्किार हो जाता है। इसके प्रणेता विज्ञानेश्वर है।

(ख) **दायभाग संयुक्त परिवार**:- बंगाल व असम में पाये जाते हैं। इसमें पिता की मृत्यु या उसके देने के बाद ही पुत्रा का संपत्ति पर अध्किार होता है। इसके प्रणेता जीमूतवाहन है।

(ग) **विस्तृत परिवार**- यह संयुक्त परिवार का ही एक भेद है, जिसमें मूल परिवार के अलावा पति-पत्नी के रिश्तेदार भी सम्मिलित रहते हैं। आज की परिस्थिति कुछ भिन्न हैं, व्यक्ति अलग-अलग दूर स्थानों में नौकरी करते हुये भी अपने परिवार ;संयुक्त परिवारद्ध के धर्मिक क्रिया-कलापों में

हिस्सा बंटाते है। इस प्रकार से उनका अपने परिवार के प्रति कए प्रकार का भावनात्मक लगाव बना रहता है। जिसके कारण भी हम इन्हें परिवार कहते हैं।

विवाह के आधर पर परिवार के मुख्यतः दो प्रकार हैं-

(क) **एक विवाही परिवार** - इसमें एक पुरूष का एक स्त्री से विवाह होता है आधुनिक सभ्य समाजों में एक विवाही परिवार ही मुख्यतः पाये जाते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम , 1955 भी एक पति व एक पत्नीव्रत की अनुमति देता है।

(ख) **बहुपति विवाही परिवार** - इस प्रकार क परिवार में एक पुरूष कई औरतों से विवाह करता है या एक औरत कई पुरूषों से यौन संबंध् रख सकती है। प्रायः इस प्रकार के परिवार आदिम समाजों में पाये जाते हैं। इसक दो स्वरूप हैं-

(1) **बहुपति विवाही परिवार** - इस प्रकार के परिवार में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं। इसके दो भेद हैं-

(क) **भ्रातृक बहुपतिविवाही परिवार** - इसमें सभी पति आपस में भाई होते हैं। नीलगिरि की टोडा व जौनसार की खस तथा मालाबार तट की नायर जनजाति में पाया जाता है।

(ख) **अभ्रातृक बहुपति विवाही परिवार** - इसमें कोई आवश्यक नहीं कि सभी पति आपस में भाई ही हों। टोडा व नायन में इस प्रकार का परिवार देखने को मिलता है।

(2) **बहुपत्नी विवाही परिवार** - इसमें एक पुरूष की अनेक पत्नियाँ। रहती हैं नागा, गोंड, बैगा इत्यादि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

लिण्टन ने संबंध् के आधर पर परिवार के दो भेद किये हैं-

(क) **विवाह संबंधी परिवार** - जिनमें पति पत्नी के बीच क संबंध् पाये जाते हैं। इनकी प्रकृति अस्थायी होती है।

(ख) **रक्त संबंधी परिवार** - इस प्रकार के परिवारों में रक्त संबंधी व्यक्ति रहते हैं तथा विवाह व ध्न की अपेक्षा रक्त की पर ज्यादा जोर दिया है। भारत में संयुक्त परिवार इसी श्रेणी में है।

डब्ल्यू.एल. वार्नर ने परिवार को दो भागों में विभाजित किया है-

(क) **जन्ममूलक परिवार** - यह वह परिवार है जिसमें व्यक्ति पैदा होता है। बच्चों के लिये उसक माता-पिता का परिवार प्रभव (जन्ममूलक) परिवार कहा जाएगा।

(ख) **प्रजननमूलक परिवार** - जिस परिवार का युवक-युवतियाँ विवाह कर स्थापित करते हैं, उसे प्रजननमूलक परिवार कहा जाता है।

जिमरमैन ने - परिवार के तीन प्रकार बताते हैं-

(क) **न्यासिता परिवार** - जब किसी परिवार के अंतर्गत व्यक्तिगत स्वार्थ की तुलना में समस्त परिवार का स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो ऐसे परिवार को न्यासिता का परिवार कहा जाता है। भारतीय संयुक्त परिवार एवं विस्तृत परिवार न्यासिता परिवार के बहुत ही उपयुक्त उदाहरण हैं।

(ख) **अतिलघु परिवार** - जब परिवार में सदस्यों का अपना स्वार्थ सर्वोपरि हो जाता है तो उसे अतिलघु परिवार कहा जाता है। इसे व्यक्तिवादी परिवार भी कहां जाता है।

(ग) **घरेलू परिवार** - यह उपरोक्त दोनों पिरवार के बीच की स्थिति है। यहाँ व्यक्ति के स्वार्थ एवं परिवार के स्वार्थ में एक समझौता की स्थिति होती है।

बर्गेस एवं लॉक ने दो प्रकार के परिवार की चर्चा की-

(ii) संस्थागत परिवार - ऐसा परिवार जिसमे सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है तो इसे संस्थात्मक परिवार कहते हैं।

(ii) **साहचर्य परिवार** - दाम्पत्य स्नेह एवं एकात्मकता पर आधारित परिवार को साहचर्य परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषता विवाहित मुग्म का साहचर्यात्मक जीवन बिताने की मनोकामना है। विवाहित युग्म स्थायी वैवाहिक बंध्नों की अपेक्षा परिवर्तनशील मैत्रिवत् संबंधो में रहना अध्कि पसंद करते हैं।

बोध 2.

i) वह परिवार जिसमे में स्त्री -पुरूष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं.....

ii) ऐसा परिवार जिसमे सदस्यों का व्यवहार लोकाचारों तथा जनरीतियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है,किया कहलाता है .....

6.5 परिवार के प्रकार्य

जॉर्ज पीटर मुर्डाक, जिन्होंने 250 समाजों का अध्ययन किया तथा 'परिवार को एक सार्वभौमिक संस्था कहा' मडाक परिवार के चार कार्यों को महत्वपूर्ण मानते हैं-

(i) आर्थिक कार्य

(ii) प्रजनन संबंधी कार्य

(iii) आर्थिक कार्य

(iv) शैक्षिक कार्य

- ऑगबर्न तथा निमकॉपफ ने परिवार के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है-

(i) स्नेह एवं प्रेम संबंधी कार्य

(ii) आर्थिक कार्य

(iii) मनोरंजन संबंधी कार्य

(iv) पालन-पोषण अथवा रक्षा संबंधी कार्य

(v) धर्मिक कार्य

(vi) शिक्षा संबंधी कार्य

- रीक परिवार के कार्यों को चार भागों में बाँटते हैं-

(i) वंश वृद्धि

(ii) समाजीकरण

(iii) यौन आवश्यकताओं की पूर्ति और नियंत्राण

(iv) आर्थिक कार्य

सामान्य रूप से हम परिवार के कार्यों की विवेचना निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

(1) परिवार के जैविकीय प्रकार्य

(क) यौन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति

(ख) संतानोपत्ति का कार्य प्रजाति का विकास

(ग) प्रजाति का विकास

(2) परिवार के शारीरिक सुरक्षा के कार्य-

(क) भोजन, निवास, एवं वस्त्रा की व्यवस्था

(ख) बच्चों का पालन-पोषण

(ग) सदस्यों की शारीरिक रक्षा

(3) परिवार के मनोवैज्ञानिक प्रकार्य-

(क) श्रम विभाजन

(ख) आय का प्रबंध्

(ग) संपत्ति का प्रबंध्

(घ) उत्तराध्किार

(4) परिवार के सामाजिक प्रकार्य-

(क) परिवार सदस्यों की एक निश्रित स्थिति प्रदान करता है

(ख) परिवार सदस्यों का समाजीकरण करता है

(ग) परिवार मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है

(घ) परिवार सदस्यों पर आवश्यक नियंत्राण रखता है

(घ) परिवार सदस्यों को भविष्य के निर्णय लेने में सहायता देता है

(5) परिवार के शैक्षिक कार्य

(6) परिवार के सांस्कृतिक कार्य

(7) परिवारक के राजनीतिक कार्य

(8) परिवार के धर्मिक कार्य

(9) परिवार क मनोरंजनात्मक कार्य

6.6 परिवार के महत्वपूर्ण स्वरूप

उभयवाही परिवार जिस परिवार में संतान का माता-पिता दोनों के संबंधियो के साथ समान रूप से संबंध् रहता है, उभयवाही परिवार कहलाता हे। जैसे एक व्यक्ति अपने दादा-दादी और नाना-नानी से समान रूप से सम्बंधित होता है।

सम्मिश्रण परिवार- दो या अध्कि मूल परिवारों से निर्मित एक ऐसा परिवार जिसका निवास एक ही स्थान पर एकल रूप में होता है, सम्मिश्रण परिवार कहलाता है। इसमें विस्तृत परिवार अथवा बहुपत्निक एवं बहुपतिक परिवार सम्मिलित होते हैं। यह यौगिक परिवार से मिलता से मिलता-जुलता है।

यौगिक परिवार -बहुविवाह के आधर पर बने परिवार को यौगिक परिवार कहा गया है। इसमें दो या दो से अध्कि केन्द्रीय ;मूलद्ध परिवार किसी एक सामान्य निवास स्थान ;घरद्ध में साथ-साथ रहते हैं। यह परिवार साझा पति या पत्नी के द्वारा जुड़ा होता है। बहुध बहुपत्नी विवाह की प्रणाली में जोड़ने वाला यह व्यक्ति पति होता है।

दाम्पतिक या दाम्पत्यमूलक परिवार -ऐसा परिवार जिसमें रक्त संबंधें की अपेक्षा पति-पत्नी के संबंधें की अध्कि महत्व एवं प्राथमिकता दी जाती है, दाम्पत्यमूलक परिवार के नाम से जाना जाता

है। विवाह के आधर पर निर्मित इस प्रकार के परिवार की रचना पति-पत्नी तथा उनकी अविवाहित आश्रित संतानों द्वारा होती है। यदि इनके साथ अन्य संबंधी ;दंपत्ति के माता-पिता या भाई-बहन आदिद्ध भी रहते हैं तो उनकी स्थिति महत्वहीन होती है। ऐसे परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों के संबंध् प्रकार्यात्मक रूप मे प्राथमिक होते हैं तथा अन्य व्यक्ति उनके मात्रा सहयोगी या गौण होते हैं। इसे लघु या जैविक परिवार भी कहते हैं।

द्विस्थानीय परिवार -ऐसे परिवार जिसमे विवाहोपरांत पति-पत्नी साथ-साथ नहीं रहते हैं, अपितु वे अलग-अलग उन्हीं परिवारों में रहते हैं जिनमें उनका जन्म हुआ है। लक्षद्वीप व केरल के कुछ भागों में यह परिवार देखने को मिलता है। ऐसे परिवारों में पति केवल रात बिताने के लिये अपनी पत्नी के घर जाता है, किन्तु दिन में जीविकोपार्जन करने के लिये पुनः अपने जन्म के परिवार में लौट आता है।

उभयस्थानिक विस्तारित परिवार - जब विवाह के पश्चात् पुत्रा अथवा पुत्री अपने मूल परिवार में ही रहते हैं, तब इस प्रकार क उभयस्थानिक परिवार का जन्म होता है। इस प्रकार के बंध्न सूत्रा पिता तथा पुत्रा अथवा माँ और पुत्री के बीच होता है।

6.7 सारांश

उपरोक्त विवरण के आधार पर स्पष्ट है की परिवार एक सार्वभोमिक संस्था है जो समाज के इतिहास में हमेशा से रही है बदलते समय के साथ साथ परिवार के स्वरुप व प्रकृति में भी परिवर्तन आया है जिसके कारण परिवार की संरचना और कार्यों में भी व्यापक बदलाव आया है फिर भी परिवार एक संस्था के रूप में यथावत है और निश्चित रूप से रहेगी

6.8 परिभाषिक शब्दावली

एकांकी परिवार- वह परिवार जिसमे पति, पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे समिम्लित है

संयुक्त परिवार - ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ एक छत के अन्दर रहते हैं

द्विस्थानीय परिवार - ऐसे परिवार जिसमे विवाहोपरांत पति-पत्नी साथ-साथ नहीं रहते हैं

मूल या केन्द्रीय परिवार - इस प्रकार के परिवार में स्त्री -पुरूष व उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं।

6.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) अल्मर

बोध प्रश्न 2

i) मूल्य या केंद्र परिवार

ii) संस्थागत परिवार

6.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

Bogardus, E.S., Introducation to Sociology: Introduction to Sociology, Los Angeles: University of Southern California Press, 1917.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

Cooley, C.H., Social Organization, Glencoe:The Free Press, 1962.

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशन्स, आगरा 2009

6.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Davis, Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company, 1949

Fairchild,H.P.,Dictionary of Sociology, London:Vision, 1958

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशन्स, आगरा 2009

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. परिवार की परिभाषित किजीय। परिवार की मूलभूत विशेषताएं किया है

इकाई 7-नातेदारी

Kinship

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 नातेदारी का अर्थ

7.3 नातेदारी के प्रकार

7.3.1 रक्त सम्बन्धी नातेदारी

7.3.2 विवाह सम्बन्धी नातेदारी

7.4 नातेदारी की श्रेणियाँ

7.4.1 प्रथमिक सम्बन्धी

7.4.2 द्वितीयक सम्बन्धी

7.4.3 तृतीयक सम्बन्धी

7.5 नातेदारी की रीतियाँ

7.5.1 परिहार

7.5.2 परिहास

7.5.3 मातृलेय

7.5.4 माध्यमिक सम्बोधन

7.5.5 पितृष्वश्रेय

7.5.6 सह प्रसविता या सहकश्टी

7.6 सारांश

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

7.8 अभ्यास प्रशनो के उत्तर

7.9 सन्दर्भ ग्रंथ

7.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.11 निबंधात्क प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

परिवार तथा विवाह के साथ ही नातेदारी भी एक प्रमुख सामाजिक संस्था है मानव समाज में अकेला नहीं होता। उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परन्तु इनमें से सबसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है, जो कि विवाह बन्धन और रक्त सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित है। वास्तव में व्यक्ति अपनी सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों पर निर्भर होता है,इनमे से सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति वो होते है जिनका एक व्यक्ति से विवाह अथवा रक्त संबंध होता है यह सम्बन्ध अन्तः क्रिया के परिणाम है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है की संबंधो की वो व्यवस्था जिसके अंतर्गत कुछ सामाजिक नियम एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से विवाह अथवा रक्त के द्वारा जोड़ते है उसे नातेदारी व्यवस्था कहते है। नातेदारी का प्रत्येक समाज में बहुत महत्व है। संगमन, गर्भावस्था, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि जीवन के मूलभूत तथ्यों के साथ मानव व्यवहार का अध्ययन ही नातेदारी का अध्ययन है। मनुष्य जन्म के बाद से ही अनेक लोगों से सम्बन्धित हो जाता है। इन सम्बन्धों में विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध अधिक स्थायी और घनिष्ठ होते है। जिन विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों द्वारा मनुष्य बंधे होते हैं और जो सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होते है इन्हें हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्मिलित करते है।

7.1 उदेश्य

इस इकाई का मुख्य उदेश्य नातेदारी के द्वारा सामाजिक संरचना को स्पश्ट करना, नातेदारी की प्रकार ,विशेषताएं व नातेदारी की विभिन्न रीतियों के बारे में पूर्ण जानकारी देना है इस इकाई के अध्यन के बाद आप नातेदारी व्यवस्था को विस्तार पूर्वक समझ सकेंगे

7.2 नोतेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

नातेदारी रक्त और विवाह से सम्बंधित व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधो और संबोधनो की वह व्यवस्था है जो इन संबंधो से जुड़े हुए व्यक्तियों को उनके सामाजिक अधिकारों और कर्तव्यों का बोध कराती है

नातेदारी का अर्थ निम्नलिखित प्रमुख समाजशास्त्रियो ने अपनी परिभाषाओ के द्वारा स्पष्ट किया।

रेडक्लिफ ब्रोव्न के अनुसार 'नातेदारी सामाजिक उदेश्यो के लिय स्वीकृत वंश संबंध है तथा यह सामाजिक संबंधो के प्रथागत स्वरुप का आधार है' ।

हॉबल के अनुसार, "नातेदारी व्यवस्था प्रस्थिति और भूमिकाओं की जटिल प्रथाएँ हे जो सम्बन्धियों के व्यवहारों को संचालित करती है।

लेवी स्ट्रास के अनुसार, "नातेदारी व्यवस्था वंष अथवा रक्त सम्बन्धी कर्म विशयक सूत्रों से निर्मित नहीं होती जो कि व्यक्ति को मिलती है, यह मावन चेतना में विद्यमान रहती है, यह विचारों की निरंकुष प्रणाली है, वास्तविक स्थिति का स्वतः विकास नहीं है।" आपका मानना है कि यह रक्त सम्बन्ध पर आधारित नहीं है। इसमें समाज की मान्यता अत्यावष्यक है। एक पुरुष और स्त्री के बिना विवाह किये सन्तानोत्परित करते है, परन्तु समाज की मान्यता प्राप्त नहीं होने के कारण स्त्री-पुरूश, पति-पत्नी नहीं कहलायेंगे और उनसे सन्तान को भी अवैध सन्तान कहा जाएगा।

मजूमदार एवं मदान ने लिखा है कि, " सभी समाजों में मनुश्य अनेक प्रकार के बन्धनों द्वारा आपस में समूहों में बंधे हुए होते है। इन बन्धनों में सबसे अधिक सार्वभौमिक तथा आधारभूत रबंधन वह है जो सन्तानोत्परित पर आधारित होता है, सन्तानोत्परित मावन की स्वाभाविक इच्छा है और इससे निर्मित हुए बंधन नातेदरी कहलाते है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि नातेदरी व्यवस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त समाजिक व्यवस्था है जो मानव चेतना में विद्यमान होती है। यह विवाह मान्य संबंध तथा वंशवलियों के द्वारा निर्धारित होती है। नातेदरी व्यवस्था को समझाने के लिए इसकी विषेशताओं का अध्ययन करना आवष्यक है, जो निम्न प्रकार से है-

7.3 नातेदारी के प्रकार

नातेदारी का संबंध मुख्यतः उन व्यक्तियों से होता है जो एक दूसरे से जो एक दूसरे से रक्त अथवा विवाह के द्वारा जुड़े होते है

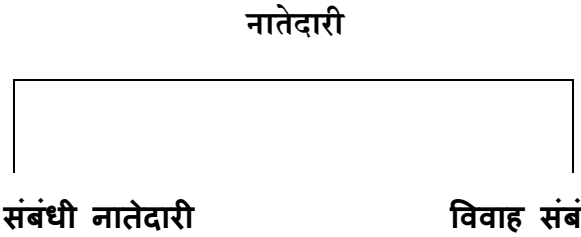

7.3.1 रक्त संबंधी नातेदारी-

इसके अंतर्गत वे सभी आते है जो समान रक्त के कारण एक दूसरे से सम्बंधित होते है अथवा जिनमे समान रक्त होने की संभवाना की जाती है , जैसे माता-पिता एवं संतानों के बीच का संबंध। एक व्यक्ति के माता-पिता भई-बहिन, दादा-दादी, बुआ, चाचा आदि रक्त संबंधी है। रक्त सम्बन्धियों के बीच वास्ताविक रक्त सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। इनके बीच काल्पनिक संबंध भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत किसी को गोद लेने अथवा अपना लेने से यह काल्पनिक नातेदार बन जाते है। इन संबंधों पर समाज की स्वीकृति अनिवार्य होती है। उदाहरण के लिए पिता-पुत्र का संबंध रक्त पर आधारित होता है

7.3.2 विवाह सम्बन्धी नातेदारी

यह पति-पत्नी के यौन सम्बन्धों पर आधारित हैं अथवा यह नातेदारी संबंध उन व्यक्तियो के बीच स्थापित होते है जो विवाह के द्वारा एक दूसरे से सम्बंधित होते है और उनका वैवाहिक सम्बन्ध सामाजिक या कानूनी आधार पर मान्य होना चाहिए। इसे विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं। विवाह पश्चात एक पुरुष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, मौसा, साडू आदि भी बन जात है। उसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पष्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र- वधु, भाभी,देवरानी, जेठानी, चाची, मासी, सलेज आदि भी बन जाती है। विवाह के द्वारा दो व्यक्ति तथा दो परिवार और उनके सदस्य परस्पर संबंधों में बंध जाते है जैसे उपति-पत्नी, दामाद-ससुर, जीजा-साला, मामा-भान्जा, ससुर-पुत्रवधु, देवर-भाभी, चाची-भतीजा, ननद-भाभी, देवरानी-जेठानी आदि। इस प्रकार से विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियों या नातेदारी को विवाह सम्बन्धी कहते है।

7.4 नातेदारी की श्रेणियाँ

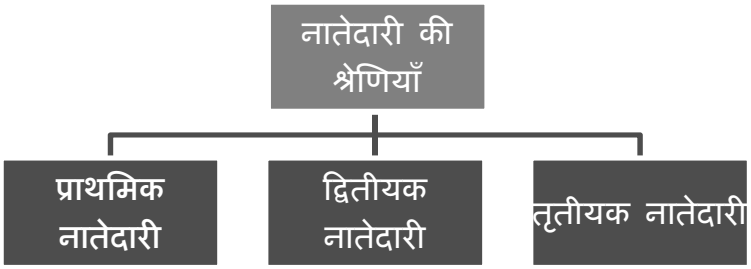

7.4.1 प्राथमिक नातेदारी –जिन व्यक्तियों के बीच रक्त अथवा विवाह का प्रत्यक्ष संबंध होता है उन्हें एक दूसरे का प्राथमिक नातेदार कहा जाता है। मुरडॉक ने बताया एक परिवार में आठ प्रकार के प्राथमिक सम्बन्धी हो सकते है, जिनमें सात रक्त सम्बन्धी तथा एक विवाह सम्बन्धी होता है। पिता-पुत्र, पति-पुत्री, माता-पिता, माता-पुत्री, भाई-बहन, बहन-बहन, भाई-भाई ये सभी रक्त सम्बन्धी है जबकि पति-पत्नी विवाह सम्बन्धी है।

7.4.2 द्वैतीयक सम्बन्ध – जो व्यक्ति हमारे प्राथमिक नातेदार के प्राथमिक संबंधी होते है वो हमारें द्वैतीयक नातेदार हो जाते है । एक व्यक्ति का दादा उसका द्वितीयक सम्बन्धी है क्योंकि दादा से पोते का सम्बन्ध पिता के द्वारा है पिता तथा पिता के पिता (दादा) आपस में प्राथमिक सम्बन्धी है। रक्त सम्बन्धी द्वितीयक रिष्तेदार के और उदाहरण है- चाचा, भतीजा, मामा, नाना, नानी पोता, पोती, बुआ आदि। विवाह द्वारा भी द्वितीयक सम्बन्ध होते है, जैसे सास, ससुर, साला, बहनोई, साली, जीजा, देवर, भाभी आदि।

7.4.3 तृतीयक सम्बन्ध -जो व्यक्ति हमारे द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक संबंधी होते है वो हमारें तृतीयक नातेदार हो जाते है जैसे पिता तथा की माता की सभी बहिने हमारी द्वितीयक नातेदार होंगी जबकि उन बहनों के सभी बच्चे से हमारे संबंध तृतीयक नातेदारी के अंतर्गत आयेंगे

बोध प्रश्न 1

(i) जो समान रक्त के कारण एक दूसरे से सम्बंधित होते है,वह नातेदारी किया कहलाती है .....

(ii) भतीजा, मामा, नाना, नानी पोता, पोती, बुआ द्वैतीयक नातेदारी के उदहारण है –सत्य /असत्य .....

7.5 नातेदारी की रीतियाँ

जो व्यक्ति हमसे रक्त या विवाह के द्वारा सम्बंधित होते है उन सभी से हमारे व्यवहार एक जैसे नही होते जेसे नातेदारी-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों का भी समावेश होता है हमारे किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध है, परन्तु बात यहीं पर नहीं समाप्त होती है। इस रिश्ते या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार का भी हुआ करता है। उदाहरणतः अ, ब पति पत्नी है, इस सम्बन्ध के आधारा पर उनका व्यवहार का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान होगा। यह संभव नहीं है कि उनका व्यवहार माता-पुत्र के वयवहार जैसा कुछ रिष्तों का आधार श्रण और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति का । माता-पिता के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति में। जीजा-साली या साले बहनोई का सम्बन्ध में मधुर सम्बन्ध है। अतः स्पष्ट है कि नातेदारी व्यवस्था में दो सम्बन्धियों के बीच का सम्बन्ध किस प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ नियम या रीतियाँ होती है, इसी को नातेदारी की रीतियाँ कहते है। हम यहाँ कुछ बहुप्रचलित नातेदारी की रीतियों का उल्लेख करेंगे।

7.5.1 परिहार या विमुखता (Avoidance)

शाब्दिक रूप से परिहार का अर्थ है 'दूर रहना' अथवा 'बचना' इसका अर्थ है कि कुछ सम्बन्धी आपस में विमुखता बरतें, एक-दूसरे से कुछ दूरी बनाये रखने का रखने का प्रयत्न करें ।परिहार संबंधी रीतियाँ कुछ विशेष नातेदारो को इस बात का निर्देश देती है की वे एक दूसरे से कुछ दूर रहे और जहा तक हो एक दूसरे का नाम ना ले । कभी-कभी तो वे सम्बन्धी एक दूसरे को देख भी नहीं रख सकते, बातचीत नहीं कर सकते, आमने-सामने नहीं आ सकते।

पुत्रवधु और सास सासुर के बीच किसी न किसी प्रकार का परिहार लगभग सभी समाजों में पाया जाता है। भारतीय समाज में बहु से यह आशा की जाती है कि वह अपने पति के पिता (ससुर) तथा बड़े भाईयों अथवा वयोवृण् सम्बन्धी के सम्मुख बिना परदे के न जाए और ससुर तथा ज्येश्ठ भाईयों से भी यह आषा की जाती है कि जहाँ तक हो सके वे बहु से बात करने के अवसर टालते रहें। कई समाजों में सास अपने दामाद से घूघट निकालती है और उससे बात तक नहीं सकती है। कई समाज में भाई बहन परस्पर परिहार का पालन करते हैं। जिन सम्बन्धियों में परिहार अथवा विमुखता के सम्बन्ध पाए जाते है, उनमें से प्रमुख इस प्रकार है- सास-दामाद परिहार, ससुर-दामाद परिहार, ससुर-पुत्रवधु परिहार, ससुर-दामाद परिहार, ज्येश्ठ एवं छोटे भाई की पत्नी की बीच परिहार , स्त्री के पति का पत्नी की बड़ी बहन से परिहार।भारत की भील जनजाति में बहु और ससुर के इतनी अधिक दूरी रखीं जाती है की वो बिना किसी मध्यसस्थ के वे आपस में कोई बातचीत नहीं कर सकते

टॉयलर का मत है कि परिवार का प्रारम्भिक स्वरूप मात्सताआत्मक था और ऐसे परिवार में दामाद बाहर का व्यक्ति होने से एक अपरिचित व्यक्ति था। अतः जब वह अपनी पत्नी के साथ प्रतिबन्धित व्यवहारों का पालन करना पड़ता था। पितृसत्मक परिवार में ससुर-वधु परिहार भी इसी तरह पनपे। लोवी ने परिहार को सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण एवचं मूल्यों से आती है और उसके प्रभाव से घर के सदस्यों को बचाने के लिए परिहार संबंध पनपे है। जैसे फेजर का मानना है कि परिहार संबंध यौन संबंध को नियंत्रित करने तथा निकट साहचर्य को रोकने के लिए पनपे है। टर्नी हाई परिवारकी षान्ति के लिए परिहार को आवष्यक मानते हैं।

7.5.2 परिहास या हँसी मजाक के सम्बन्ध

ब्राउन के अनुसार 'परिहास संबंध दो व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाला वह संबंध है, जिसमे एक पक्ष को प्रथा द्वारा यह छुट दी जाती है और कभी कभी दोनों पक्षों से ये आशा की जाती है , की वह एक दूसरे से हसी मजाक करे , उन्हें तंग करे लेकिन दूसरा पक्ष उसका बुरा ना मानें' नातेदारी की रीतियों में परिहास सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। परिहास दो रिष्तेदारों में परस्पर निकटता लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को मधुर सम्पर्क सूत्र में बाँधता है। और उन दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी मजाक करने का अधिकार देता है।

देवर भाभी, जीजा साली, ननद भाभी, मामा भान्जा, चाचा-भतीजा आदि के बीच विभिन्न समूहों में पाए जाने वाले मधुर सम्बन्ध परिहास सम्बन्ध के उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते है, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते है। हँसी-मजाक त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। हिन्दुओं में होली का त्यौहार इस मामले में उल्लेखनीय है।

रैडक्लिफ ब्राउन परिहास सम्बन्धी को एक ऐसी मित्रता का प्रतीक मानते हैं जिसे पशु-तापूर्ण व्यवहार के रूप में व्यक्त किया जाता है। आपसी गाली गलौज, एक दूसरे के साथ मारपीट आदि दिखावटी षत्रुता है। मामा भान्जे में परिहास सम्बन्ध को विवाह से सम्बन्धित कुलों के बीच सम्भाव्य वैमनस्य को मिटाने का एक साधन माना गया है। चेपल तथा कून के विचार हैं कि परिहास एक प्रेरक कारक है जो सम्बन्धियों में परस्पर सम्बन्ध बढ़ता है।

रिवर्स का विश्वास है कि परिहास सम्बन्ध की उत्पति फुफेरों ममेरों में विवाह सम्बन्ध, जो प्रारम्भिक युग में सामान्य था, के कारण हुई। वेस्टरमार्क इस सिणन्त से सहमत नहीं हैं। आपके अनुसार किसी भी संस्था से किसी की उत्पति की कल्पना करना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। वेस्टरमार्क का मत है कि जिन व्यक्तियों में परिहास सम्बन्ध होते है उनमें पारस्परिक समानता रही है और उनमें इतनी घनिश्ठता रही है कि वे कभी एक-दूसरे से विवाह भी कर लेते हैं। जैसे जीजा साली परिहास, साली विवाह का एवं देवर भाभी परिहास देवर विवाह का सूचक है।

7.5.3 मातुलेय

जिन समाजो में पिता की तुलना में माता के अधिकारों और शक्ति की प्रधानता होती है , उनमे मातुलय यह सम्बन्ध प्रायः मातृ-सात्मक समाजों में पाया जाते है। अनेक समाजों में पिता के स्थान पर मामा की प्रधानता होती है। हॉबल ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है, माता के भाई (मामा) और बहन की सन्तानों (भान्जा-भान्जी) के बीच सम्बन्धों की जटिलता मातुलेय कहलाती है। जिन परिवारों में सम्पति पिता के स्थान पर मामा के पास होती है, भान्जे-भान्जी मामा के संरक्षण में रहते है। सम्पति मामा से भान्जे को हस्तान्तरित की जाती है और भान्जे के पिता की बजाए मामा के लिए कार्य करते है। मातुलेय सम्बन्ध के अनेक उदाहरण देखे जा सकते है। जैसे होपी और जूनी जनजाति में लड़के के विवाह योग्य होने पर मामा द्वारा उसका विवाह किया जात है।

7.5.4 माध्यमिक संबोधन

माध्यमिक संबोधन या अनुनामिता नातेदारी व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण रीति है। अनेक समाजों में ऐसे नियम है जहाँ सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना मना है। उसे सम्बोधित करने के लिए व्यक्ति किसी और सम्बन्धी का माध्यम बना कर पुकारता है। इसीलिए उसे माध्यमिक सम्बोधन कहते है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रं में पत्नी अपने पति का नाम नहीं ले सकती है। इस कारण पत्नी अपने पति को सम्बोधन करने के लिए अपने पुत्र या अन्य को माध्यम बना लेती है और उसी के सम्बन्ध नाम से पति को पुकारती है। जैसे अमुक के पिताजी या अमुक की माँ आदि।

टायलर ने सर्वप्रथम मानवषास्त्रीय साहित्य में माध्यमिक सम्बोधन शब्द का प्रयोग किया है। माध्यमिक सम्बोधन का अंग्रेजी षब्द ''टेक्रोनमी'' ग्रीक भाषा से बना है। टायलर का मानना है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति मातृसात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इन परिवारों में सर्वेसर्वा स्त्री होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती थी। इसीलिए उसे प्राथमिक सम्बन्धियों में सम्मिलित न करके द्वितीयक सम्बन्धी के रूप में स्वीकार किया जाता था। पति सन्तानें पैदा करने में हिस्सेदार होता था इसलिए उसे उन बच्चों के माध्यम से पुकारा जाता था जो उसके द्वारा जन्में है।

लोवी टायलर के सिद्धांतो को नहीं मानते है। उनका मानना है अगर मातृसात्मक परिवार इसका कारण है तो पितृात्मक परिवार में इस प्रथा का प्रचलन नहीं होता । हिन्दु समाज तथा भारत की अनेक जनजातियाँ पितृसात्मक है और उनमें माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जात है।

7.5.5 पितृष्वश्रेय

यह सम्बन्ध मातुलेय के ठीक विपरित होते है। इसमें पिता की बहन बुआ को प्रधानता दी जाती है। इनमें जो स्थान मामा का मातुलेय समाजों में होता है वही स्थान बुआ का पितृष्वश्रेय समाज में होता है। पितृसष्वश्रेय सम्बन्धों के उदाहरण अनेक समाजों में देखने को मिलते है, डॉ. रिवर्स ने बैक्सिदिप में इस प्रथा का प्रचलन पाया है। वहाँ बुआ ही भतीजे के लिए वधू ढूढ़ती है, भतीजा माँ से अधिक बुआ का सम्मान करता है, वही बुआ की सम्पति का उत्तराधिकार होता है। भारतीय समाज की टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण बुआ करती हैं। इस प्रथा के बारे में चैपल तथा कून का मानना है कि पितृष्वश्रेय सम्बन्ध उन नातेदारों में पारस्परिक सामाजिक अन्तः क्रिया को बनाये रखना के लिए

प्रचलित है जिनमें विवाह के बाद अन्तः क्रिया के समाप्त हो जाने या शिथिल हो जाने की सम्भावना रहती है।

7.5.6 सहकष्टी या सह-प्रसविता

हॉबल के अनुसार, "यह एक रीति है जिसमें पत्नी के जब सन्तान होती है तब पति बिस्तर पर ऐसे लेट जात है मानो उसके अभी बच्चा हुआ है।" इस प्रथा के अन्तर्गत जब पत्नी के सन्तान होने वाली हो तब पुरुष को उन सारे निषेधो का पालन करना पड़ता है, जिनका पालन उसकी पत्नी करती है। पति अपनी पत्नी की तरह से उसी कमरे में उसके साथ रहता है। प्रसव पीड़ा के कारण पत्नी जब चिल्लाती है, तो पति भी चिल्लाता है। भारत में खासी व टोड़ा जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। एक खासी-पति को पत्नी की तरह नदी पार करने एवं कपड़े धोने की उस समय तक मनाही रहती है जब तक कि सन्तान होने के बाद देवी-देवताओं की पूजा नहीं कर ली जाती।

मैलिनोवस्की ने इसे एक सामाजिक क्रिया माना है जिसका उद्देष्य पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों को घनिश्ठ बनाना है तथा पैतृक प्रेम को प्राप्त करना है। कुछ विद्वान इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। उसकी मान्यता है कि इससे पति-पत्नी में परस्पर प्रेम का विकास होता है। कुछ जनजाति में इसका कारण माता-पिता पर प्रतिबंध लगाकर उनको जादू-टोने के बुरे प्रभाव से बचाए रखना है ताकि नवजात शिशु कुशलता से जन्म ले सके। डॉ.एस.सी. दुबे का मानना है कि इस प्रथा का प्रचलन सामाजिक पितृत्व निर्धारण का करने के लिए हुआ होगा। बहुपति विवाह तथा मातृसात्मक परिवारों में सन्तान का जैविकीय पिता प्रायः अज्ञात ही होता था और वह व्यक्ति सन्तान का पिता माना जाता है जो सहकश्टी रीति का पालन करता था ।

7.6 सारांश

उपयुक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है की नातेदारी व्वस्था भारतीय समाज की एक प्रमुख सामाजिक संस्था रही है , जो अपने विभिन्न नियमों व सिद्धांत के जरियें व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जोड़े रखती है। नातेदारी का प्रत्येक समाज में बहुत महत्व है। संगमन, गर्भावस्था, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि जीवन के मूलभूत तथ्यों के साथ मानव व्यवहार का अध्ययन ही नातेदारी का अध्ययन है। नातेदरी व्यवस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त समाजिक व्यवस्था है जो मानव चेतना में विद्यमान होती है। यह विवाह मान्य संबंध तथा वंशवलियों के द्वारा निर्धारित होती है

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. स्वजन - विवाह/रक्त संबंधी
2. विमुखता - सामाजिक दूरी बनाए रखने वाली प्रथा
3. बर्हिविवाह - अपने समूह के बाहर विवाह
4. अन्तः विवाह - अपने समूह के अन्दर विवाह।

7.8 अभ्यास प्रशनो के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(i) रक्त संबंधी नातेदारी

(ii) सत्य

7.9 सन्दर्भ ग्रंथ

अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशन्स, आगरा 2009

जैन, शोभिता. , भारत में परिवार विवाह और नातेदारी, रावत, जयपुर 1996

शर्मा , के.एल., भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत, जयपुर 2006

7.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Bogardus, E.S., Introducation to Sociology: Introduction to Sociology, Los Angeles: University of Southern California Press, 1917.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problem & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

Cooley, C.H., Social Organization, Glencoe:The Free Press, 1962.

7.11 निबंधात्क प्रश्न

1. नातेदारी को परिभाशित कीजिए। इसके प्रमुख प्रकार्यों को समझाइए।

2. नातेदारी की रीतियाँ अथवा व्यवहार को समझाइए।

इकाई 8-जाति

Caste

इकाई की रूपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 जाति का अर्थ तथा परिभाषा

8.2.1 जाति व्यवस्था की विशेषताएँ

8.2.2 जाति-व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण

8.3 जातीय गतिशीलता

8.3.1 संस्कृतिकरण

8.3.2 पश्चिमीकरण

8.4 सारांश

8.5 परिभाषिक शब्दावली

8.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

8.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

समाज चाहे किसी भी श्रेणी, काल-खण्ड या युग का हो, उसके स्वरूप में असमानता एवम् विभेदीकरण का किसी-न-किसी रूप में पाया जाना एक अनिवार्यता है। सामाजिक विभेदीकरण के

अन्तर्गत व्यक्तियों को अनेक वर्गों, भाषा, आयु, सगे-सम्बन्धियों, नातेदारों, लिंग, धर्म, स्थान-विशेष इत्यादि का आधार लेकर अलग किया जाता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का जन्म, शिक्षा, व्यवसाय और आय के आधार पर विभाजन किया जाता है।

जाति-व्यवस्था की स्थापना हमारी भारतीय सामाजिक संरचना की आधारभूत विशेषता है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया का मूल आधार जहाँ जाति और वर्ग रहे हैं तो वहीं पश्चिमी देशों में केवल वर्ग। भारत में हिन्दू-समाज प्राचीन समय से ही जाति के आधार पर अनेक श्रेणियों में बँटा रहा है। जाति-व्यवस्था के आने के कारण हमारा समाज समस्तरीय और विषमस्तरीय रूप से अनेक भागों में बँटता चला गया। तुलनात्मक रूप से देखें तो जाति-व्यवस्था के अंतर्गत अनेक श्रेणियों में बँधे समूह वर्ग-व्यवस्था में श्रेणीबद्ध समूहों से कहीं अधिक संख्या में हैं। भारत की वर्तमान सामाजिक संरचना को देखें तो पता चलता है कि, वर्तमान में समाज न केवल जातीय आधार पर बल्कि वर्गीय आधार पर भी स्तरीकृत हो रहा है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ कर आप में निम्नांकित योग्यता आ जाएगीः

- जाति तथा वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट का सकेगें,
- आधुनिक समय में जाति में आए परिवर्तन को स्पष्ट कर सकते हैं,
- जातीय गतिशीलता, संस्कृतिकरण तथा पाश्चात्यकरण की व्याख्या कर सकतें हैं और,
- जाति तथा वर्ग में भेद कर सकते है।

8.2 जाति का अर्थ एवं परिभाषा

जाति शब्द के अंग्रेजी पर्याय कास्ट 'Caste' का उद्भव पुर्तगाली भाषा 'Casta' शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ नस्ल, मत, विभेद तथा गति से है। जाति को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। क्योंकि, यह बहुत ही जटिल और गूढ़ अवधारणा है। जाति व्यवस्था जन्म से व्यक्ति को विशेष

सामाजिक स्थिति प्रदान करती हैं, जिसमें आजीवन कोई परिर्वतन नही किया जा सकता। विभिन्न विद्वानों ने जाति को अलग-अलग प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है जो इस प्रकार है:-

हरबर्ट रिज़ले के अनुसार - "जाति ऐसे परिवारों का समुच्चय है, जिनके नाम एक से हों, जो एक ही वंश से सम्बन्ध रखते हों, जिनके मिथकीय/काल्पनिक पूर्वज, चाहे वे मानवीय हों या अलौकिक, एक ही हों, जो एक ही पदानुक्रम व्यवस्था का पालन करते हों तथा जिसका अनुपालन ऐसे लोग करते हों जो एक जातीय समुदाय का निर्माण कर सकने में सक्षम हों"।

डी0 एन0 मजूमदार ने जाति की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा, "जाति एक बन्द वर्ग है"।

पी0 एच0 कूले ने जाति को वंशानुगत व्यवस्था से जोड़ते हुए कहा है - "जब एक वर्ग विशेष मुख्य रूप से वंशानुगत पदानुक्रम व्यवस्था पर आधारित हो तो हम उसे जाति का नाम दे सकते हैं"।

केतकर के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी कुछ विशेषतायें हैं - (1) जाति की सदस्यता उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो कि, जाति-विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए हैं और इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति जाति में आते हैं, (2) जिसके सदस्य एक अविच्छिन्न सामाजिक नियमों के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए गए हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि, जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म के आधार पर मिलती है। जाति में इतनी शक्ति होती है कि, वह अपने समूह के लोगों पर खान-पान, विवाह, नौकरी, उद्योग और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित नियम-कायदे और प्रतिबन्ध लगाती है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, जाति-व्यवस्था की प्रकृति गतिशील है और इसके द्वारा लागू प्रतिबन्धों को आखिरी नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर व्यक्ति कभी-कभी सम्मान, धन-सम्पत्ति और सत्ता आदि को आधार बनाकर अपनी जाति को बदलने की ताकत रखता है और ऐसा करता भी है। इसी कारण हम देख सकते हैं कि कई विद्वानों ने जाति का परिभाषा के रूप में वर्णन करने की जगह जाति की विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिनमें हट्टन, दत्ता, घुरिये आदि मुख्य हैं। जाति भारत की एक मौलिक सामाजिक संस्था के रूप में जानी जाती है।

बोध प्रश्न 1

i) जाति की सदस्यता का आधार क्या है ?

1. जन्म
2. शिक्षा
3. संपत्ति
4. व्यवसाय

.....
.....
.....
.....
.....

ii) जाति की किसी एक परिभाषा का उल्लेख कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.2.1 जाति की विशेषताएँ

1. जाति का सोपान जन्म पर आधारित- जाति की सदस्यता जन्म से मिलती है। जन्म के समय व्यक्ति की जो जाति होती है वह मरने तक उसी जाति का रहता है जैसे ब्राह्मण जाति में जन्मा व्यक्ति ब्राह्मण की तरह ही मरेगा। चाहे वह जीवन भर पुण्य करे या पाप करें । मैकिम मेरियट ने किशनगढ़ी की जातियों का अध्ययन कर उनके भोजन और पानी के चरों को आधार मानकर श्रेणियाँ बनाई हैं। जातियों में श्रेणीकरण को निश्चित करने की एक प्रचलित परम्परा है जिसे रोटी, बेटी और व्यवहार कहा जाता है। अर्थात् कुछ लोगों के हाथों से पानी पी सकते हैं, कुछ लोगों के हाथ से बना खाना खा सकते हैं और कुछ लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाये जा सकते हैं। वास्तव में समूची जाति-व्यवस्था को सोपानों में बाँधने का मूल आधार यही रिवाज़ रहे।

2. सहभोगी और सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध- जाति-प्रथा में ऐसे नियम जो निषेधात्मक नियम रहे उनमें व्यक्तियों के आपस में भोजन और व्यवहार आदि बातों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध मुख्य हैं। कुछ जातियों में यह नियम बना कि वह दूसरी जाति के लोगों के हाथ का बना भोजन नहीं खा

सकती है तो वहीं कुछ लोगों के साथ एक पंक्ति में बैठना और खाना मना किया गया है। श्रीनिवास ने भोजन सम्बन्धी निर्योग्यताओं के आधार पर भोजन को पवित्र और अपवित्र दो प्रकार का माना है। उन्होंने घी से बने भोजन को पवित्र और पानी से बने भोजन को अपवित्र माना। जैसे ब्राह्मण यदि खाना बनाए तो सभी जातियों के लोग उसके हाथ का बना खाना चाहे कच्चा हो या पक्का, खाते हैं पर यदि शूद्र व्यक्ति खाना बनाए तो उसके हाथ का बना कैसा भी भोजन ऊँची जाति के लोग ग्रहण नहीं करते।

3. सामाजिक भागीदारी में धार्मिक निर्योग्यताएं- पवित्रता और अपवित्रता का विचार जातियों में बहुत अधिक महत्त्व रखता है, इसको आधार मानकर कुछ जातियों ओर व्यवसायों को अपवित्र भी समझा गया है। इस धारणा के पीछे धार्मिक विश्वासों की भी बड़ी भूमिका रही है। व्यवसाय-विशेष के अलावा कुछ व्यक्ति भी जाति द्वारा अपवित्र माने गये हैं जैसे एक स्त्री जब विधवा हो जाती है तो इतनी अपवित्र मान ली जाती है कि, वह किसी शुभ कार्य में शामिल नहीं हो सकती। इन सभी निषेधों का कारण सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक-विश्वास हैं।

4. प्रदत्त-प्रस्थिति- जन्म लेने के साथ ही जाति के सदस्य की प्रस्थिति निश्चित हो जाती है। उसी प्रस्थिति के दायरे में वह अपना जीवन व्यतीत करता है। धन, व्यवसाय, शिक्षा आदि में बढ़ोत्तरी करके भी अपनी जाति को व्यक्ति बदल नहीं सकता है। जैसे क्षत्रिय जाति का व्यक्ति हमेशा अपनी जाति के दायरे में रहेगा, उसके नियम, कायदे-कानून और सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी निषेधों का पालन करना उसके लिए जाति की एक अनिवार्य शर्त होगी।

5. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध- प्रत्येक जाति में विवाह से सम्बन्धित कई नियम हैं, पाबन्दियां हैं जिनका आज भी पालन किया जाता है। इन नियमों में अन्तर्विवाह का नियम मुख्य है। वास्तव में हर एक जाति अनेक उपजातियों में बंटी हुई है और उपजातियां अन्तर्विवाही समूह हैं। जातियों पर भी कई परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा है और वह बदली भी अवश्य हैं परन्तु अन्तर्विवाह के नियम द्वारा आज भी जाति-व्यवस्था एक सूत्र में बंधी हुई है। हम समाज में देख सकते हैं कि, जातियों के कुछ सदस्यों ने अपनी जाति के बाहर जाकर भी विवाह किए और आज भी कर रहे हैं। इस प्रकार के विवाह अर्न्तजातीय विवाह कहलाते हैं।

6. निश्चित व्यवसाय- जाति-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता रही है उसके द्वारा किया गया व्यवसाय का निर्धारण। प्रत्येक जाति का एक परम्परा से चला आ रहा व्यवसाय होता है जो पीढ़ी-

दर-पीढ़ी उस जाति के सदस्यों में एक से दूसरे को हस्तांतरित होता रहता है। आधुनिक समय में किए गए कई शोधों से पता चला है कि जातियों के लिए निश्चित किया गया उद्योग- धन्धों का निर्धारण आजकल वैसे लागू नहीं होता जैसे पहले होता था। आज बहुत-सी जातियों ने पीढ़ियों से चले आए धन्धों को बदल दिया है, उदाहरण के तौर पर लें तो ब्राह्मण जाति आज पुरोहितगिरी के कार्य को छोड़कर अन्य कार्यों ,उद्योगों में भी लगी हुई है और क्षत्रिय जाति के व्यक्ति अध्यापन सम्बन्धी कार्यों में लगे हैं। यही स्थिति अन्य जातियों में भी देखी जा सकती है।

बोध प्रश्न 2

1. जाति की किन्ही दो विशेषताओं का उल्लेख चार पंक्तियों में कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.2.2 जाति-व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक अनेक परिर्वतन होते आए है। जाति-व्यवस्था की संरचना और संस्कृति में परिवर्तन आया है । जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारकों में सबसे महत्वपूर्ण घटक इस प्रकार हैं:-

1. औद्योगीकरण- औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा औद्योगिक उन्नति हुई और बड़ी संख्या में नगरों का विकास हुआ। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत नये-नये उद्योगों और व्यवसायों की भी स्थापना हुई। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने भी औद्योगीकरण को विकसित होने में सहायता ही की। औद्योगीकरण और नगरीकरण का दूर-दूर तक प्रसार होने के कारण विज्ञान और उच्च तकनीकी ज्ञान को बहुत बढ़ावा मिला है। विकसित कस्बों और महानगरों में आजीविका प्राप्ति के लिए बसे विविध जातियों और संस्कृतियों के लोगों को आपस में घुलने-मिलने के अवसर प्रदान हुए, शिक्षा के प्रसार और

व्यवसाय के इन नवीन समीकरणों ने जातिगत प्रतिबन्धों को कमजोर कर जाति-व्यवस्था में कई परिवर्तन किए हैं।

2. शिक्षा का सार्वजनिकीकरण- आज शिक्षा का अधिकार सभी जातियों को समान रूप से प्राप्त है, यह कुछ राजसी घरानों, अभिजात वर्गों तथा उच्च जातियों तक सिमटी हुई नहीं है। आज की शिक्षण-पद्धति से भिन्न प्राचीन-पद्धति में शिक्षा का स्वरूप धर्म पर आधारित था, अतः स्वाभाविक रूप से वह जाति-व्यवस्था पर बल देती थी और चंद ऊँची जातियों की शिक्षा तक ही सीमित थी। अंग्रेजों के भारत में आने के बाद भारत में पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति का आरम्भ हुआ जिसका स्वरूप धर्मनिरपेक्ष था। इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति के आने से विभिन्न जातियों का आपस में मेल-जोल बढ़ता चला गया और व्यक्तियों के मन में समानता, भिन्नता और स्वतत्रंता के प्रगतिशील विचार उत्पन्न होने लगे। शिक्षा के समुचित प्रसार से जाति-प्रथा धीरे-धीरे निर्बल होती गई।

3. वैश्वीकरण और उत्तर-आधुनिकता- वैश्वीकरण के द्वारा सारी दुनिया एक ग्लोबल गांव के रूप में सिमट गई है। भारत में रोज एक नये व्यावसायिक उपक्रम की स्थापना हो रही है, नई-नई कम्पनियां आ रही है, जहाँ व्यक्ति को जाति के आधार पर नौकरी न देकर उनकी योग्यता के आधार पर उन्हें कार्य मिल रहा है। गांव विकसित होकर शहर में बदल रहे हैं, शहर नगरों में परिवर्तित हो रहे हैं ,जिस कारण गांवो में फैली रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ पहले जैसी प्रभावी नहीं रह गई हैं।

4. अस्पृश्यता की समाप्ति- सरकार द्वारा ऐसे नियम बनाए गये हैं, जिन्होंने अस्पृश्यता की रोकथाम में विशेष योगदान दिया है। जाति-व्यवस्था के अत्यन्त कठोर नियम होते थे जिनके अन्तर्गत पिछड़ी, अनुसूचित जाति और जनजातियों को ऊँची कहे जाने वाली जातियाँ अपने से हेय दृष्टि से देखती थीं और उनसे एक खास दूरी रखती थीं। अस्पृश्यता निवारण हेतु बने अधिनियमों ने इन भेदभावों को काफी हद तक दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

5. यातायात और संचार के साधनों में उन्नति- यातायात के साधनों में प्रगति होने से सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि के साथ-साथ नए-नए नगरों, उद्योग-धन्धों, व्यवसायों, मिल और कारखानों की उत्पत्ति एवं उन्नति होती है। यातायात में वृद्धि और संचार माध्यमों की तीव्रता ने देश में फैली जाति-व्यवस्था की जड़ों को हिला कर रख दिया है। लोगों की अब एक सोच विकसित हो गई है, वह इन छोटी-छोटी बातों पर विचार नहीं करते हैं बल्कि अब उनकी सोच का दायरा भी बढ़ गया है। जाति के लिए जिन नियोग्ताओ को निर्धारित किया गया था वह अब धुधली-सी पड़ गई हैं।

6. राज्य की दृष्टि में जन्म, लिंग, धर्म और रंग अप्रासंगिक हैं- भारत के नीति-निर्माताओं ने भारतीय संविधान में ऐसी कुछ धाराओं को शामिल किया, जिन्होंने जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित नकारात्मक प्रथाओं व रीतियों से समाज को मुक्त करने में सहायता की। इन धाराओं ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि, राज्य के प्रत्येक नागरिक के साथ समानता का व्यवहार करते हुए धर्म, प्रजाति, लिंग और जन्म-स्थान आदि के नाम पर उनके साथ किसी भी तरह का भेदभाव नहीं किया जाएगा। अर्थात् सरकार की दृष्टि में भारत में रहने वाले विभिन्न धर्मा को मानने वाले लोगं, सभी जातियों के लोग और पुरूष तथा स्त्री सभी एक ही हैं, अलग-अलग नहीं।

7. कृषि में पूँजीवाद- भारत में लगभग 80 प्रतिशत जनता की आजीविका का मुख्य साधन कृषि है। वर्ष 1967 में भारत के कुछ राज्यों जैसे हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक में हरित-क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिससे जाति-व्यवस्था ग्रामीण स्तर पर कुछ कमजोर हुई। आज कृषि के पुराने तरीकों की जगह नयी कृषि तकनीकी का प्रयोग कृषि-कार्य में किया जा रहा है। भारतीय कृषि पर पूंजीवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है जिसने एक ही जाति के अन्दर वर्ग बना दिये हैं। इससे हम यह समझ सकते हैं कि, वर्ग बन जाने के कारण जाति-व्यवस्था निर्बल हो गई। भारत के छोटे-छोटे गांवों में आज भी रूढ़िवादिता और जाति-व्यवस्था चली आ रही है, उसमें बहुत परिवर्तन नहीं हुआ है।

8. प्रजातन्त्रीय सिद्वान्त- प्रजातन्त्रीय सिद्वान्तों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता का कारण प्रत्येक नागरिक को समान स्थान पर रखना है। यह सिद्वान्त कहता है कि, किसी व्यक्ति के साथ जन्म और परिवार के आधार पर ऊँच-नीच का भेद करना ठीक नहीं है। संविधान के द्वारा अनुसूचित जातियों-जनजातियों और समाज के पिछड़े वर्गों को विकास की मुख्य-धारा में लाने के लिए कुछ विशेष अधिकार दिये गए हैं। इन सबके कारण ऊँची कही जाने वाली जातियों के नियमों में आज कुछ ढीलापन भी आया है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था कोई सामान्य-सी व्यवस्था न होकर सबके हितों की सोचने वाली है, इसके प्रभाव से ही जातियों के नियंत्रण में कुछ कमजोरी आई है।

बोध प्रश्न 3

1. जाति प्रथा में परिवर्तन लाने वाले कारको में से किन्ही तीन घटकों को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.3 जातीय-गतिशीलता

जाति अनेक श्रेणियों में विभक्त होती है, इसमें सभी व्यक्तियों की प्रस्थिति पहले से ही निश्चित होती है। जब इस पूर्व-निश्चित प्रस्थिति में परिवर्तन आने लगता है, तब इसे ही जातीय-गतिशीलता कहते हैं। गतिशीलता से सामान्यतया हमारा अभिप्राय एक व्यक्ति अपने जीवन-काल में जिन उतार-चढ़ावों का सामना करता है, उस प्रक्रिया से है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया कभी-कभी एक समूह में भी देखी जाती है, जोकि गतिशीलता का ही एक उदाहरण है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने जातीय गतिशीलता के जिस दृष्टिकोण को प्रकट किया, उसने जाति के मिथक को तोड़ने का काम किया। उनके अनुसार जाति-व्यवस्था की यह विशेषता है कि, इसके अन्तर्गत आने वाले घटकों का स्थान तो हमेशा के लिए निश्चित होता है पर साथ ही इसमें गतिशीलता की सम्भावना भी बनी रही है। यह विशेषता जाति-व्यवस्था को अन्य अपेक्षाकृत कठोर व्यवस्थाओं से अलग स्थान पर रखती है। एक व्यक्ति की जाति को उसके संपूर्ण जीवन के लिए निश्चित करने का कार्य जाति-व्यवस्था के द्वारा किया जाता है। जातीय गतिशीलता को संस्कृतिकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की सहायता से समझा जा सकता है।

8.3.1 संस्कृतिकरण

सर्वप्रथम एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की अवधारणा को प्रयुक्त किया था। उनके अनुसार संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक निम्न हिन्दू जाति अथवा कोई जनजाति या अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति के समान अपने रीति-रिवाजों , कर्मकाण्डों, विचार-धारा और जीवन-शैली को बदलने लगता है। उपरोक्त परिभाषा के माध्यम से यह प्रकट होता है कि, जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाली गतिशीलता संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। यह गतिशीलता इस प्रक्रिया द्वारा स्पष्टतः समझी जाती है। उदाहरण के तौर पर ब्राह्मणों की

जीवन-शैली, कर्मकाण्ड, रहन-सहन और खान-पान सम्बन्धी व्यवहारों का अनुकरण करते हुए निम्न जातियों ने मांसाहारी भोजन का निषेध और मदिरापान आदि को त्याग करना प्रारम्भ कर दिया है। यह संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का ही अंग है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि, संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया जाति में संरचनात्मक परिवर्तन न करते हुए केवल पदमूलक परिवर्तन को सूचित करती है। अर्थात् संस्कृतिकरण में किसी जाति-विशेष से सम्बन्धित कुछ लोगों की जीवन-शैली और आचार-विचार में अवश्य परिवर्तन आ जाता है परन्तु यह परिवर्तन भी इस जाति-विशेष को अपने से ऊँची जातियों से आगे नहीं बढ़ने देता है।

8.3.2 पश्चिमीकरण

पश्चिमीकरण की अवधारणा संस्कृतिकरण आदि अन्य अवधारणाओं से तुलनात्मक रूप में कहीं अधिक सहजता और सरलता लिए हुए है। एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण को परिभाषित करते हुए कहा कि, जिस प्रक्रिया के अन्तर्गत ब्रिटिश उपनिवेशकाल में 150 वर्षों से भी अधिक समय तक भारतीय समाज की जातियों में और संस्कृति में जो भी परिवर्तन आए, उसे पश्चिमीकरण या पाश्चात्यकरण कहते हैं। इस शब्द के अन्तर्गत विशेष रूप से प्रौद्योगिकी संस्थाओं, वैचारिकी और मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों का समावेश किया जाता है। भारत में अंग्रेजों के आने और शासन करने से पहले भारतीय समाज में हिन्दू-जीवन को जाति-प्रथा के नियमों और प्रतिबन्धों ने बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। जब भारत में अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो गई तब औद्योगिकरण का विस्तार हो जाने के कारण नगरीकरण का होना प्रारम्भ होने लगा, जिसके कारण गांवों की जनता हजारों की संख्या में रोजी-रोटी की तलाश में नगरों में आने लगी। इसके कारण गांव पहले की तरह आत्मनिर्भर नहीं रह गए। भारतीय लोगों के ब्रिटिश समाज के निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण भारत में पाश्चात्य शिक्षा, मूल्य और नवीन तकनीक का भी आगमन होने लगा, जिसने भारतीय समाज के परम्परागत स्वरूप को बदलना प्रारम्भ कर दिया। यह प्रक्रिया पश्चिमीकरण कहलायी। जब पश्चिमी मूल्यों, पाश्चात्य शिक्षा आदि के प्रभाव से उच्च जातियों की परम्पराओं और रीति-रिवाजों आदि में परिवर्तन आने लगता है, यह पश्चिमीकरण कहलाता है।

आजादी के बाद जाति में कई बदलाव आये हैं, जिसे कि मुख्य रूप से स्तरीकरण के रूप में देखा जा सकता है। पहला बदलाव संवैधानिक प्रक्रिया द्वारा आया जोकि, मौलिक परिवर्तन रहा। संविधान के द्वारा यह निश्चित किया गया है कि, राज्य की दृष्टि में जाति का आधार लेकर व्यक्तियों के बीच कोई

भेदभाव नहीं किया जाएगा। दूसरा बदलाव के अन्तर्गत उन विशेष योजनाओं को लागू करना है जिनको दलितों और अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए बनाया गया। पिछले कुछ दशकों में हमारे समाज में शिक्षा का तेजी से प्रचार हुआ है जोकि, इस दिशा में सहायक ही सिद्ध हुआ है। वर्तमान में जातियों में आए परिवर्तन और गतिशीलता का परिणाम यह हुआ कि उसने पारम्परिक श्रेणीकरण की व्यवस्था को काफी हद तक बदल दिया है। इसका मुख्य कारण विज्ञान, प्रौद्योगिकी के प्रसार और धर्मनिरपेक्षता की प्रकृति है, जिसने उन मूल्यों को ही हिलाकर रख दिया है जो पवित्र और अपवित्र की धारणा को पोषित करती थीं। समाज में इसका सकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि दलित जाति को मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार मिला है। भारत के सुदूर ग्रामों को यदि छोड़ दिया जाए तो छोटे कस्बों और नगरों, महानगरों में छुआछूत एवं जातिगत भेदभाव की भावना में कुछ कमी आई है। आज दलितों के हाथ में सत्ता और राजनैतिक अधिकारों के आ जाने से वह अपने हक के लिये आवाज उठा रहे हैं, अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आरक्षण की सुविधा द्वारा देश के सभी दलित एक डोर में बँध गए हैं। यह सभी परिवर्तन जाति के स्वरूप में आए मूलभूत परिवर्तनों के ही सूचक हैं।

बोध प्रश्न 4

1. जातीय गतिशीलता में संस्कृतिकरण की भूमिका को पांच पक्तियों में समझाइए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.4 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं के रूप में जाति और वर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जाति-व्यवस्था का स्वरूप पारम्परिक तथा जन्मजात है जोकि अपने प्रतिबन्धों और नियम-कानूनों को बनाकर उनका अनिवार्य अनुपालन जाति के सदस्यों के लिए निर्धारित करती है। व्यक्ति

को जाति की सदस्यता जन्म से प्राप्त होती है जिसके कारण वह अपनी जाति को परिवर्तित नहीं कर सकता है। औद्योगिकीकरण और नगरीकरण के विस्तार और समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना के कारण बढ़ी जागरूकता के कारण जाति-व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हुए और उसके नियमों की कट्टरता में भी कुछ कमी आई है। शिक्षा के समुचित प्रसार और औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण के उदय के साथ ही समाज में स्तरीकरण की एक नवीन व्यवस्था के रूप में सामाजिक वर्ग का प्रारम्भ हुआ। सामाजिक गतिशीलता और भूमण्डलीकरण आदि कारणों से जाति-व्यवस्था के समानान्तर वर्ग-व्यवस्था समाज में तेजी से विकसित हुई है और इसका महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। वर्ग-व्यवस्था जाति-व्यवस्था से कहीं अधिक लचीली और मुक्त व्यवस्था है जिसमें सदस्यता जन्म आधारित न होकर व्यक्तिगत क्षमता, धन-सम्पत्ति और उद्योग पर आधारित होती है जिसके कारण व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश कर सकता है। भारतीय समाज में जाति और वर्ग को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता।

8.5 परिभाषिक शब्दावली

अन्तर्विवाह- अपनी जाति में विवाह करना, बाहर नही।

सोपान - व्यक्तियों का समूह जिसे पद के क्रमानुसार रखा गया है।

8.6 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध-प्रश्न 1

i) जन्म

ii) विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर जाति का अर्थ एवं परिभाषा शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 2

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर जाति की विशेषताएँ शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 3

इस प्रश्न का उत्तर जाति-व्यवस्था एवं उसका रूपान्तरण शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर जातीय गतिशीलता शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

8.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

शर्मा, के. एल. 2001. कास्ट एंड क्लास इन इंडिया. रावत पब्लिकेशन. जयपुर.

दोषी व जैन, 2009, समाजशास्त्रः नई दिशाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

हसनैन, नदीम. 2005. समकालीन भारतीय समाजःएक समाजशास्त्रीय परिदृश्य. भारत बुक सेन्टर. लखनऊ.

अटल, योगेश . 1968. द चेन्जिग फ्रटीयर ऑफ कास्ट. नेशनल पब्लिशिंग हाउस. दिल्ली.

जी. एस. घुरिए . 1961. कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन. पॉपुलर प्रकाशन. बम्बई

सिंह, योगेन्द्र. 1988. सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड चेंज इन इंडिया. मनोहर. दिल्ली.

8.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

शर्मा, के. एल. 2001. कास्ट एंड क्लास इन इंडिया. रावत पब्लिकेशन. जयपुर.

जी. एस. ,घुरिए 1979. कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया. पॉपुलर प्रकाशन. बम्बई.

जी. एच. हट्टन 1951. कास्ट इन इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. बम्बई.

बीरस्टीड, राबर्ट. 1957. द सोशियल आर्डर. मैकग्रू-हिल बुक कों. न्यूयार्क.

दत्ता ,एन. के. 1931. ओरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया. द बुक कों. कोलकत्ता.

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. वर्तमान समय में जाति में कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे है। इन परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी कारकों का उल्लेख कीजिए।

2. जाति क्या है ? जातीय गतिशीलता की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

3. जाति क्या है ? यह वर्ग से किस प्रकार भिन्न है।

इकाई 9-महिला

Women

इकाई की रूपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 महिलाओं की प्रस्थिति-ऐतिहासिक सन्दर्भ

9.3 महिलाओं की प्रस्थिति के द्योतक

9.3.1 जनांकिकीय प्रस्थिति

9.3.2 शैक्षणिक प्रस्थिति

9.3.3 रोजगार प्रस्थिति

9.3.4 राजनीतिक प्रस्थिति

9.3.5 स्वास्थ्य प्रस्थिति

9.4 मुख्य समस्याऐं

9.4.1 दहेज

9.4.2 अत्याचार या भेदभाव

9.5 संवैधानिक प्रावधान, विशेष कानून

9.6 सारांश

9.7 परिभाषिक शब्दावली

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.11 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज में स्त्रियों की समस्याओं के मूल्यांकन और उनके स्थान में आये परिवर्तनों के अध्ययन की दिशा में कई प्रख्यात समाजशास्त्री और गैर-समाजशास्त्री सालों से प्रयासरत हैं। वैधानिक रूप से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को बराबर में लाने के लिए चाहे कितने भी कदम उठाए गये हों, व्यावहारिक रूप से वह अभी तक समाज द्वारा अंगीकार नहीं किए गए हैं, उनके साथ भेदभाव, तिरस्कार, उपेक्षा, प्रताड़ना और अपमानजनक व्यवहार आज भी समाज में निरन्तर किया जा रहा है। यद्यपि समाज का प्रबुद्ध और विचारशील वर्ग अब इस बात को मानने लगा है और व्यवहार में लाने का प्रयास भी बराबर कर रहा है कि, परिवार में पुत्र और पुत्री दोनों समान हैं और पुत्री के साथ स्त्री होने के नाते भेदभाव करना ठीक नहीं है। सभी स्त्रियां लैंगिक दृष्टि से समान होते हुए भी भारतीय समाज में उनकी स्थिति एक-दूसरे से अलग है। यह भिन्नता एक प्रकार की सामाजिक विजातीयता के कारण है, जैसे उच्च वर्ग की स्त्रियां मध्यम वर्ग और मध्यम वर्ग की स्त्रियां निम्न वर्ग से तथा उच्च व मध्यम वर्ग की स्त्रियां निम्न वर्ग से भिन्न होती हैं।

9.1 उद्देश्य

- इस इकाई को पढ़ने के बाद विभिन्न कालों में महिलाओं की प्रस्थिति को समझ सकंेगें;
- इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् वर्तमान समय में महिलाओं की विभिन्न प्रस्थितियों में आये परिवर्तनों के बारे में समझ सकेगें;
- महिलाओं की विभिन्न प्रस्थितियों में संवैधानिक प्रयासों के द्वारा आये परिवर्तनों को समझ सकेंगे।

9.2 महिलाओं की प्रस्थिति-ऐतिहासिक सन्दर्भ में

भारतीय इतिहास के पन्ने पलटें तो एक बात साफ पता चलती है कि, भारतीय समाज में महिलाओं की प्रस्थिति हमेशा से विवादास्पद रही है। 'मनु-स्मृति' के रचयिता मनु महाराज ने नारी को ऊँचे स्थान पर रखते हुए यहाँ तक कहा है कि, "यत्रः नार्यस्तु पूज्यते, रमंते तत्र देवता"। अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवताओं का निवास होता है। नारी जाति का स्वर्णिम युग तथा हिन्दू-

समाज की उत्तम व्यवस्था का युग वह था, जब चारों वेदों की रचना हुई अर्थात् वैदिक-काल। वैदिक-काल में नारी की स्थिति इतनी सशक्त तथा अधिकारपूर्ण थी कि, वह अपना अधिकतम विकास करने में समर्थ थी। इस युग में ,जन्म लेने के पश्चात् स्त्री और पुरूष में किसी तरह का भेद नहीं किया जाता था। लड़कों की तरह लड़कियों का भी उपनयन संस्कार किया जाता था जोकि, नारी की मजबूत प्रस्थिति को स्पष्ट करता है। इस समय स्त्री को विधवा होने के पश्चात् पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त था।

वैदिक-युग के बाद बौद्ध काल इस दृष्टि से कमतर ही सिद्ध हुआ। बौद्ध-काल में नारी को नदी और शराब के समान सबके उपभोग की वस्तु माना गया, जोकि स्त्रियों की हीन दशा की ओर संकेत करता है।

भारतीय इतिहास का मध्यकाल नारी की दुर्दशा को प्रकट करता है। इस समय भारत में विदेशी आक्रमणकारियों और मुसलमानों का आना शुरू हो गया था और यहाँ मुगल-साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। बाहरी संस्कृति से अपने को दूर रखने, रक्त को दूषित होने से बचाने के लिए और नारियों के सतीत्व की रक्षा करने के लिये नारी की स्वतंत्रता को दबा दिया गया और उसके लिए कठोर नियम बना दिये गए। इन्हीं सब कारणों से धीरे-धीरे स्त्रियों का व्यक्तित्व घर की चारदीवारी तक सीमित होता गया, उनके अधिकार न के बराबर हो गये और सबसे बुरा रहा उनकी शिक्षा के प्रति सबकी उदासीनता का होना। स्त्री-शिक्षा को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। इन सब बातों के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक कुरीतियों का चलन भी शुरू हो गया जैसे बाल-विवाह, बहुपत्नी-प्रथा, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा आदि। उस समय स्त्रियों की शिक्षा की हालत इतनी बुरी हो गई थी कि, 15वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में दस में से मात्र एक महिला ही ऐसी थी जो कुछ लिख-पढ़ सकती थी। स्त्री-शिक्षा की इससे ज्यादा दुर्गति और क्या हो सकती है?

ब्रिटिश-काल में भी स्त्री का स्थान पुरूषों से निम्न-स्तर पर ही रहा। परिवार में नारी को एक सेविका से अधिक कुछ नहीं माना जाता था। स्वाभाविक रूप से नारी, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप से बहुत पिछड़ गई थी जिस कारण उसका शोषण करना सबके लिए आसान हो गया। नारी-जाति की ऐसी शोचनीय स्थिति होने के बावजूद देश की आज़ादी की लड़ाई में कई महिलाओं ने अत्यन्त वीरता का प्रदर्शन करते हुए पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर भरसक प्रयास किये। ऐसी वीरांगनाओं में रानी दुर्गावती, पन्ना दाई, रानी लक्ष्मी बाई, माता जीजाबाई, चाँदबीबी आदि प्रमुख

हैं। ब्रिटिश काल में अनेक समाज-सुधारकों द्वारा समाज को सुधारने हेतु कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये ,परन्तु फिर भी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक ऐसे कोई विशेष कार्य नहीं हुए जो नारी की स्थिति को ऊँचा उठा सके। अंग्रेजों ने भारतीय शिक्षण-पद्धति को किनारे कर भारत में पाश्चात्य-शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इस तरह पाश्चात्य संस्कृति के निकट सम्पर्क और शिक्षा-पद्धति के आने से नारी के प्रति सोच में बदलाव आया, कट्टरता की जगह उदारवादी दृष्टिकोण ने ली। हालांकि शिक्षा का यह स्वरूप केवल उच्च वर्ग की स्त्रियों को ही लाभ दे सका। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्त्रियों का जीवन बेहद कष्टपूर्ण और दयनीय था। 19वीं शताब्दी के अन्तिम भाग और 20वीं सदी के प्रारम्भ में नारी के शोषण के विरोध में अनेक समाज-सुधार आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। यह आन्दोलन नारी के उपेक्षित जीवन को फिर से समाज की मुख्य-धारा में स्थापित करने में सफल रहे। इन आन्दोलनों के प्रणेता राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि विचारक रहे। इनके द्वारा समाज में फैली अनेक बुराईयों जैसे सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, बहुविवाह प्रथा, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, शिक्षा और सम्पत्ति के अधिकारों की उपेक्षा आदि को समाज से हटाने का अथक प्रयास किया गया। इसी रास्ते पर आगे चलकर जब भारत स्वतंत्र हुआ और देश का नया संविधान बना तब भारतीय नारियों के अधिकारों को समझा गया और उन्हें कई महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किये गए, जिससे नारी की सामाजिक व पारिवारिक प्रस्थिति में सुधार हुआ। सैद्धान्तिक रूप से ही सही, पर स्त्रियों को पुरूष के समान समझा गया, वेतन और अधिकार भी मिला।

बोध-प्रश्न 1

i) वैदिक युग में महिलाओं की स्थिति के संदर्भ में विवेचना कीजिए? तीन पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

9.3 महिलाओं की प्रस्थिति के द्योतक

कोई भी मानव-समाज हो, महिलाओं ने हमेशा अनेक भूमिकाओं और दायित्वों को बराबर निभाया है। भारत में भी महिलाओं ने अलग-अलग भूमिकाएं सफलतापूर्वक निभाई हैं। भारतीय समाज में महिलाओं की प्रस्थिति को विभिन्न आयामों द्वारा समझा जा सकता है। इन पक्षों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है:-

9.3.1 जनांकिकीय प्रस्थिति

जनसंख्या की संरचना का अध्ययन विभिन्न बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है जैसे- लिंग, आयु, मृत्यु-दर, व्यावसायिक वितरण, शिक्षा, ग्रामीण और शहरी जनसंख्या आदि। पुरूष और स्त्री का लैंगिक अनुपात और मृत्यु-दर का अध्ययन महिलाओं की जनसांख्यिकीय प्रस्थिति को जानने के लिए जरूरी है। भारत में पुरूषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और यह कष्टपूर्ण स्थिति है कि, प्रत्येक वर्ष महिलाओं की संख्या में निरन्तर कमी आ रही है जो भविष्य में भयावह स्थिति की ओर संकेत कर रही है। वर्ष 1901 की जनसंख्या के अनुसार भारत में प्रति 1000 पुरूषों के पीछे 972 स्त्रियां हैं जो कि, वर्ष 1991 तक पहुंचते-पहुंचते 927 तथा वर्ष 2001 तक 933 रह गया और वर्ष 2011 के नवीनतम प्राप्त आंकड़ों के अनुसार यह और भी घटकर 940 तक पहुँच गया है। निम्नांकित तालिका द्वारा वर्ष 1901 से वर्ष 2001 तक महिलाओं की जनसंख्या की गिरावट को सरलतापूर्वक देखा जा सकता है।

लिंग अनुपात (1901-2011)

जनगणना वर्ष	लिंग अनुपात
1901	972
1911	964
1921	955
1931	950
1941	945
1951	946
1961	941

1971	930
1981	934
1991	927
2001	933
2011	940 (**अनुमानित)**

इस तालिका को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि, वर्ष 1901 से 1971 तक पुरूष-स्त्री में अनुपात कम होता गया है। वर्ष 1971-1981 के दौरान लिंग अनुपात थोड़ा-सा बढ़ा पर वर्ष 1981-1991 के दौरान वह फिर से घट गया। वर्ष 1991-2001 तथा 2001-11 के दशक में यह अनुपात पुनः थोड़ा बढ़त की ओर अग्रसर हुआ।

महिलाओं की इस चितंनीय स्थिति के लिए कई कारक जिम्मेदार माने जा सकते हैं जिनमें बाल विवाह, लड़कियों की सामाजिक उपेक्षा, प्रसव सम्बन्धी सुविधाओं की कमी, स्त्रियों का घरेलू कार्यो में दबे रहना आदि मुख्य हैं। भारत में महिलाओं की जनसंख्या में हो रही निरन्तर गिरावट का मुख्य कारण कन्या भ्रूण-हत्या जैसा जघन्य पाप है। आज भी भारत में कई जगह या तो कन्या भ्रूण को पैदा होने से पहले ही मार दिया जाता है या जन्म के तुरन्त बाद नवजात बालिका को मौत की गोद में सुला दिया जाता है। महिलाओं के प्रति किए जाने वाले ऐसे अपराधों के कारण ही भारत में महिलाओं की जनसंख्या पुरूषों की तुलना में बहुत कम होती जा रही है।

9.3.2 शैक्षणिक प्रस्थिति

शिक्षा को समाज का दर्पण इसलिये कहा गया है। क्योंकि, शिक्षा व्यक्ति की सामाजिक दृष्टि को विकसित करने का आधार है। शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति को समाज एवं राष्ट्र के प्रति जागरूक होने की शक्ति मिलती है। शिक्षा के द्वारा महिलाऐं व्यक्तित्व का विकास तो करती ही हैं साथ-ही-साथ वह अपने को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और समाज में अपनी प्रस्थिति और भूमिका को सुधारने का काम भी अधिक चतुराई और कुशलता से करती हैं।

देश के स्वतन्त्र होने के बाद सरकार द्वारा महिलाओं की स्थिति पर ध्यान दिया गया और महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए देश भर में नारी-शिक्षा को प्रोत्साहित करने का कार्य बड़े पैमाने पर किया गया। इन प्रयासों को अपेक्षित परिणाम भी मिले और महिलाओं ने शिक्षित होकर अपनी

पारम्परिक जीवन शैली को छोड़कर अपनी विचारशीलता से बुद्धिजीवी वर्ग को परिचित कराया और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित किया। आज समाज के हर क्षेत्र जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि में महिलाओं ने बराबर की भागेदारी कर अपनी एक अलग पहचान को बनाया है। यह सब शिक्षा के ही परिणामस्वरूप सम्भव हुआ। इतने सब प्रयासों के बाद भी समग्र साक्षरता दर को देखें तो महिलाओं की साक्षरता दर, पुरूष साक्षरता दर से अभी कम है **-**

भारत में साक्षरता दर - (1951-2001)

वर्ष	व्यक्ति	पुरूष	स्त्री	महिला–पुरूष में सापेक्ष शैक्षणिक अन्तर
1951	18.33	27.16	8.86	13.30
1961	28.30	40.40	15.35	25.05
1971	34.45	45.96	21.97	23.98
1981	43.57	56.38	29.76	26.62
1991	52.21	64.13	39.24	24.84
2001	64.87	75.85	54.16	21.69
2011	74.04	82.14	65.46	अनुमानित

स्त्रोतः–जनगणना रिपोर्ट, 2003–2005

महिलाओं की शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, समाज में स्त्री-शिक्षा के प्रति गहन उदासीनता और उपेक्षा। समाज में शिक्षा के क्षेत्र में यदि गहराई से देखेंगे तो पायेंगे कि, लड़कियों को जल्दी पढ़ाई छोड़ देनी पड़ती है। इन सब समस्याओं के अनेक कारण है जिनमें लड़की का घरेलू कार्यो में

संलग्न होना, डर की भावना, लड़कियों के कम स्कूल होना, सांस्कृतिक मूल्य, स्त्री-जीवन का उद्देश्य घर संभालना मानने की संकुचित सोच और भारतीय समाज का पितृसत्तात्मक स्वरूप जिसके अन्तर्गत पुरूष को ही कर्त्ता-धर्त्ता मानकर स्त्री व्यक्तित्व को हाशिए पर धकेल देना आदि मुख्य हैं। जब भी महिला को समान शिक्षा और अधिकार मिले उसने अपने वजूद को साबित भी किया है। केरल राज्य जहाँ लड़कियों की साक्षरता का प्रतिशत बहुत अधिक है वहाँ महिला को एक सीमा तक समान माना गया है।

9.3.3 रोजगार प्रस्थिति

नियोजित विकास की शताब्दी का आधा भाग पूरा होने के बाद महिलाओं की कार्यशीलता में वृद्धि हुई है। वह अनेक क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। आधुनिक भारत में महिलायें बड़ी संख्या में ऐसे कामों को अपना रही हैं जो कि लाभपूर्ण और वैतनिक व्यवसाय, उद्योग हैं। कार्यशील महिला की आर्थिक-स्थिति मजबूत होने से महिला-शिक्षा और नौकरी में कई लाभदायक परिवर्तन हुए हैं। महिलाओं के द्वारा घर की चौखट से बाहर कदम रखकर बाहरी दुनिया में काम करने के पीछे दो मुख्य कारण रहे। पहला तो परिवार की किसी कारणवश आर्थिक स्थिति का कमजोर होना था तथा दूसरा नारी के मन में अपने पैरों पर खड़ा होकर आत्मनिर्भर बनने की, अपनी पहचान बनाने की इच्छा का जाग्रत होना था। महिलायें आर्थिक रूप से इतनी सशक्त हो गईं कि, आज देश की आर्थिक प्रगति में महिलाओं के योगदान को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। महिलाओं की यह भागीदारी पूरे देश में एक समान नहीं पाई जाती। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में कामकाजी आबादी कुल 40.21 करोड़ के लगभग थी, जिनमें पुरूषों की संख्या 27.54 करोड़ तथा स्त्रियों की संख्या 12.70 करोड़ थी। यह स्पष्टतः पुरूषों की तुलना में आधी से भी कम थी। इस आबादी के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र से जुड़ी कामकाजी आबादी की संख्या 31.06 करोड़ थी। 31.06 करोड़ की इस ग्रामीण आबादी में पुरूष 19.92 करोड़ तथा स्त्रियाँ 11.14 करोड़ के लगभग थे। शहरी कामकाजी आबादी इसके ठीक उलटी थी। जिसमें 9.18 करोड़ आबादी शहरी कामकाजी थी। शहरी कामकाजी आबादी में 7.62 करोड़ पुरूष तथा 1.15 करोड़ स्त्रियाँ शामिल थीं। इसका मतलब यह हुआ कि, प्रत्येक पॉच पुरूषों पर एक शहरी क्षेत्र की कामकाजी महिला थी। ग्रामीण क्षेत्र में जो महिलायें श्रमिक हैं, उनमें से 87 प्रतिशत महिलायें खेतिहर मजदूर के रूप में कार्यरत हैं। शहरी क्षेत्रों

में लगभग 80 प्रतिशत महिला-श्रमिक घरेलू और कुटीर उद्योगों, छोटे स्तर के व्यवसायों, नौकरी तथा असंगठित क्षेत्रों जैसे भवन-निर्माण से सम्बन्धित कार्यो में लगी हुई हैं।

9.3.4 राजनीतिक प्रस्थिति

भारतीय संविधान के द्वारा महिलाओं को पुरूषों के समान राजनैतिक अधिकार, समानतायें और आजादी दी गई हैं। आजादी मिलने के पाँच दशकों के इतिहास को यदि देखा जाए तो हम पायेंगे कि, इस आजादी का प्रयोग जितना पुरूषों ने किया है, उतना महिलाओं ने नहीं। भारत में पुराने समय से ही भारतीय महिलाओं ने अपनी वीरता, साहस और इरादों का परचम लहराया है उनमें रानी लक्ष्मीबाई और श्रीमती इन्दिरा गांधी जोकि, भारत की पहली महिला प्रधानमंत्री बनी प्रमुख हैं। आज यदि देखा जाए तो देश के राजनैतिक ढांचे में महिलाओं की भागीदारी बहुत कम है। इस बात को अगर हम छोड़ दें कि, इस देश में महिलायें प्रधानमंत्री तथा मुख्यमंत्री के पद पर पहुँच चुकी हैं तथा अन्य कुछ बड़े पदों पर जैसे राष्ट्रपति, राज्यपाल, पंचायत प्रमुख आदि पर भी महिलायें विराजमान हुई हैं, सामान्यतः महिलाओं की पहुँच सत्ता तथा राजनैतिक निर्णय लेने वाले तंत्र से अब भी काफी दूर ही है। अभी-भी राजनैतिक पार्टियों में तथा इन पार्टियों के द्वारा संसद, विधान-मण्डलों इत्यादि संस्थाओं में चुने गए प्रतिनिधियों में महिलाओं की संख्या पुरूषों की तुलना में बहुत कम है। 73 वें संविधान संशोधन के बाद 'त्रिस्तरीय पंचायती राज योजना' को शुरू किया गया। जिसमें महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत पद आरक्षित किए गये हैं। इस संशोधन के बाद, पंचायत चुनावों में चयनित महिलाओं का एक बड़ा समूह निर्णय लेने की प्रक्रिया में नई तरह से जुड़ गया। कई राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था में 50 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान कर दिया गया है जोकि, महिलाओं की राजनैतिक स्थिति में सुधार की ओर इशारा करता है। इन दिनों पूरे देश मंे लगभग 10 लाख से अधिक महिलाएं सरपंच के रूप में अपनी भूमिका निभा रही हैं। इसके अलावा लगभग 50 हजार महिलाएं पंचायत समिति में तथा लगभग 6 हजार जिला- परिषद में सक्रिय रूप से कार्यरत हैं। यदि देखा जाए तो आज देश में पंचायत स्तर पर महिला जनप्रतिनिधियों की भागीदारी मे निरन्तर वृद्धि हो रही है।

9.3.5 स्वास्थ्य-प्रस्थिति

सरकार द्वारा महिलाओं को सुरक्षित मातृत्व और उत्तम स्वास्थ्य सेवाएँ मुहैया करवाने के अनेकों प्रयास बार-बार किए गए हैं, जिस हेतु सरकार ने कई बार स्वास्थ्य नीतियों और तत्सम्बन्धी

कार्यक्रमों में परिर्वतन किए हैं। इन प्रयासों के केन्द्र में महिला के सामाजिक और स्वास्थ्य स्तर का सुधार करना रहा। महिलाओं में पाये जाने वाली स्वास्थ्य जनित समस्याओं के दो प्रमुख कारण हैं, पहला तो सामाजिक रूप से उनकी हीन दशा का होना तथा दूसरा स्त्रीजनित सामान्य समस्यायें। महिलाओं की स्थिति दलितों से भी निम्न स्तर की है, उनका शोषण होना एक आम बात बन गया है। महिलाओं की इस शोचनीय दशा को इसी बात से समझा जा सकता है कि, बाल-महिला मृत्यु-दर, प्रजनन के समय होने वाली मृत्यु-दर, महिलाओं में रक्त की कमी का होना या अन्य प्रकार की समस्त बीमारियों का शिकार होने वालों में महिलाओं का आंकड़ा ही अधिक रहा है। प्रसव-काल में माता की सुरक्षा और सुविधाओं की उपलब्धता सभी जगह नहीं है जिस कारण महिला-मृत्यु का आंकड़ा आज भी लगातार बढ़ ही रहा है। एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रतिदिन 300 महिलाओं की मृत्यु प्रसव-काल के समय या बच्चे के जन्म के समय हो जाती है। आज केवल 45 प्रतिशत महिलायें ही ऐसी हैं जिन्हें आयरन मिल पाता है। ग्रामीण महिलाएं अधिकतर स्वास्थ्य के लिए नुकसानदायक स्थितियों और अकुशल हाथों की सहायता लेकर बच्चे को जन्म दे रही हैं। इसके अलावा भी अनेक कारण हैं, जो महिलाओं में उत्पन्न होने वाली बीमारियों के लिए जिम्मेदार हैं इनमें कुपोषण, भोजन की कम मात्रा, अशुद्ध पानी और सामाजिक भेदभाव उल्लेखनीय हैं। अतः महिला-स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए निरन्तर बदलती स्वास्थ्य नीतियों के स्थान पर उसके पूरे स्वास्थ्य पर ध्यान देना, उसकी समुचित देखभाल करना, कहीं अधिक लाभदायक होगा तथा सामाजिक सोच में परिवर्तन कर उसे बराबर का स्थान देना उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास हेतु जरूरी है।

बोध-प्रश्न 2

i)महिलाओं की शैक्षणिक तथा जनांकिकीय प्रस्थिति में बाधा का वर्णन कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 मुख्य समस्याऐं

आज महिला-साक्षरता और आत्मनिर्भरता में वृद्धि होने के कारण समस्या-समाधान के क्षेत्र में भी थोड़ी प्रगति हुई है ,परन्तु महिलाओं को आज भी समस्याओं से जूझते हुए देखने पर यह प्रकट होता है कि, महिलाओं के प्रति समाज के नजरिए में अभी बहुत अधिक बदलाव नहीं आया है। दहेज-उत्पीड़न और भेदभाव, यह महिलाओं की समस्याओं के केन्द्र में है।

9.4.1 दहेज

विवाह के अंतर्गत दहेज का लेन-देन होना अब एक सामाजिक अभिशाप बन गया है। यह एक ओर तो महिला को अपमानित करने वाली क्रूर प्रथा है तो दूसरी ओर पुत्री के माता-पिता के लिए बहुत बड़ा बोझ है। इससे छुटकारा पाने के लिए ही लोग कन्या-भ्रूण हत्या या नवजात कन्या की हत्या की ओर प्रेरित हो जाते हैं। दहेज के अन्तर्गत पत्नी विवाह-बन्धन में बंधने के समय पति के लिए उपहार स्वरूप धन, भेंट, वस्तुएं, जायदाद, आभूषण, कपड़े आदि लाती है। यह दम्पत्ति को महिला के माता-पिता, रिश्तेदारों द्वारा दिया भुगतान समझा जाता है। पहले यह स्वैच्छिक था पर इसे जबरन मांगा जाने लगा है, इसके न दे पाने पर शादियां तोड़ दी जाती हैं। अर्थव्यवस्था की बाजार प्रवृत्ति और वैश्वीकरण भी दहेज जैसी बर्बर प्रथा को बढ़ाने में सहायक रही है। लगातार बढ़ती उपभोक्तावादी संस्कृति हमारी मानसिकता को खराब कर मूल्यों को प्रभावित कर रही है। भारत में 7,895 महिलाएं दहेज के लिए मार दी जाती हैं।

भारत के सन्दर्भ में बात करें तो यह बात समझ में आती है कि, भारत के उत्तर में रहने वाली हिन्दू-जातियों में दहेज प्रथा का प्रचार अधिक है और दक्षिण अंचलों में यह शून्य के बराबर है। उत्तर-पूर्व का क्षेत्र जहाँ जनजातीय जनसंख्या अधिक पायी जाती है वहाँ दहेज का चलन न होकर वधू-मूल्य चुकाने की प्रथा है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे धर्म और जातियाँ भी हैं जहाँ दहेज-प्रथा नहीं है जैसे मुस्लिम, ईसाई और पारसी धर्म तथा आदिवासी जनजातियां भी हैं जहाँ दहेज-प्रथा जैसी कुत्सित प्रथा का प्रचार नहीं है।

9.4.2 अत्याचार या भेदभाव

भारतीय समाज में महिलाओं को हमेशा क्रूरतापूर्ण और शोषणयुक्त व्यवहार का सामना करना पड़ा है। हमारे समाज में महिलाओं के साथ जो भेदभावपूर्ण व्यवहार किया गया है वहीं महिलाओं के विरूद्ध होने वाले अत्याचारा, के उत्पीड़न आदि का मुख्य कारण है। हमारा समाज पितृसत्तात्मक रहा है जहाँ महिलाओं की स्थिति दोयम दर्जे की रही है और शक्ति का वितरण पुरूष से पुरूष को किया जाता रहा है। वातावरण में ही पुरूषवादी सोच घुली हुई है। ऐसे कई उदाहरण आये दिन मिलते या सुनाई देते हैं जब पुरूष स्त्री के प्रति खुलेआम या चोरी-छुपे क्रूर व्यवहार और मारपीट अपना हक समझ कर करता है। यह उसकी पुरूषवादी सोच और महिलाओं को अपने से कमतर मानने की सोच का ही परिणाम है। 'द गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स' की लेखिका 'अरूंधति रॉय' ने अपनी इस पुस्तक में एक जगह पर यह कहा है कि, "दक्षिण और पूर्वी भारत में जब आदमी दारू पीकर घर आता है तब उसका पहला क्रोध उसकी पत्नी और बच्चों पर उतरता है"। इसके अतिरिक्त कई अन्य भी कारण हैं जिनके द्वारा महिला के प्रति होने वाले अपराधों में वृद्धि हुई, जैसे हमारे परम्परागत मूल्यों का ह्रास, समाज में बढ़ती अपराधिक प्रवृत्तियाँ, कानूनों का देरी से और कमजोर क्रियान्वयन, सूचना-माध्यमों के द्वारा हिंसक घटनाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाना आदि। महिलाओं के प्रति की जाने वाली हिंसाओं को निम्न बिन्दुओं में बाँटा जा सकता है -घरेलू हिंसा, दहेज-उत्पीड़न, दहेज-हत्या, मारना-पीटना, प्रताड़ित करना, मानसिक व शारीरिक उत्पीड़न, चोट पहुँचाना, बलात्कार, घर, कार्यक्षेत्र और सार्वजनिक जगहों पर होने वाला यौन-उत्पीड़न, छेडछाड़, अपहरण, वेश्यावृत्ति, चिकित्सकीय हिंसा आदि। इन सबकी घिनौनी परिणति महिला की असमय और असामान्य मौत के रूप में देखी जाती है। एक रिपोर्ट के अनुसार प्रतिवर्ष 16,373 तथा प्रतिदिन 45 महिलाएँ बलात्कार का शिकार होती हैं। इसी प्रकार 44.098 महिलाएँ प्रतिवर्ष तथा प्रतिदिन 121 महिलाएँ शारीरिक उत्पीड़न का शिकार होती हैं, जिसमें से लगभग एक तिहाई पिता, दादा या परिवार के पुरूष मित्र द्वारा किया जाता है।

महिलाओं के प्रति होने वाली इन क्रूर घटनाओं के प्रतिवाद स्वरूप भारतीय संसद ने 'अपराधी कानून अधिनियम 1983' का प्रावधान किया जो कि यह प्रकट करता है कि,संसद महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों से वाकिफ है और उससे मुक्ति प्रदान करने के लिए कानून भी बना रही है। इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी घरेलू अत्याचार या क्रूरता को कानूनन एक अपराध माना गया है,

जोकि पति या पति के रिश्तेदारों द्वारा महिला के साथ किया गया हो। सरकार ने अपराधी अधिनियम 1983 में बलात्कार के लिये सजा देने हेतु संशोधन किया है।

बोध-प्रश्न 3

i) दहेज एक सामाजिक कुप्रथा है? पांच पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

9.5 संवैधानिक प्रावधान, विशेष कानून

देश के संविधान और कानून द्वारा हमको जीने के लिए कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं। भारतीय संविधान के अंतर्गत कई धाराओं की रचना की गई है जो लैंगिक असमानता और भेदभाव से बचाने के लिए बनाए गये हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रावधान निम्नांकित हैं-

अनुच्छेद-1 रोजगार के अवसरों में समानता

अनुच्छेद-10 शिक्षा के समान अधिकार

अनुच्छेद-31-ई तथा एफ-राज्य द्वारा स्त्री-पुरूषों के स्वास्थ्य और शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए अपनी सार्वजनिक नीति का निर्धारण।

अनुच्छेद-42 कार्य की मानवीय-दशाएं तथा महिलाओं के लिए मातृत्व-राहत।

महिलाओं को भारतीय संविधान के अंतर्गत कुछ मूल अधिकार भी प्रदान किये गए हैं , जिनको सरकार ने बाद में कानून बनाकर लागू कर दिया। यह कानून निम्न प्रकार से हैं -

(1) विशेष हिन्दू विवाह अधिनियम (1954) - किसी भी जाति अथवा धर्म की 18 वर्षीय लड़की तथा 21 वर्षीय लड़का इस कानून से लाभान्वित हो सकते है।

(2) हिन्दू विवाह अधिनियम (1955) - इसे जम्मू तथा कश्मीर को छोडकर शेष सारे भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधान रद्द हो गए हैं और निम्नलिखित दशाओं को विवाह के लिए जरूरी माना-

(क) लड़का और लड़की दोनों का हिन्दू होना आवश्यक है।

(ख) लड़का या लड़की की पहले से शादी नहीं हुई होनी चाहिए।

(ग) लड़का और लड़की नजदीकी रिश्तेदार नहीं होने चाहिए।

(घ) लड़का और लड़की दोनों का मानसिक स्वास्थ्य ठीक हो।

(च) लड़का कम से कम 21 वर्ष और लड़की कम से कम 18 वर्ष की होनी चाहिए।

(छ) शादी प्रचलित रस्मों-रिवाज के अनुसार होनी चाहिए, यदि सप्तपदी प्रचलित हो तो यह रस्म होना जरूरी है।

(ज) दूसरी शादी करना कानूनन अपराध है (अगर पहली पत्नी की रजामंदी हो)।

(3) बाल विवाह नियंत्रण अधिनियम (1929) के तहत बाल-विवाह करना अपराध की श्रेणी में आता है, जिसे शारदा-एक्ट के नाम से भी जाना जाता है। इस कानून के अन्तर्गत लडकी के लिए विवाह की आयु 14 वर्ष और लडके के लिए 18 वर्ष लागू की गई।

(4) दहेज निषेध अधिनियम (1961) - इसके अन्तर्गत यह कानून बना कि, दहेज लेना या देना कानूनी अपराध घोषित किया गया । सन् 1846 और 1986 में इस अधिनियम को पुनः संशोधित किया गया। अब इस कानून के तहत न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि, वह दहेज लेने और देने वाले व्यक्ति को कम-से-कम पाँच साल की जेल और साथ में कम-से-कम 500रू का जुर्माना (या दहेज की धनराशि जितना मूल्य- जो भी ज्यादा हो) अदा करने की सजा दे।

(5) बाल-विवाह प्रतिबन्ध (संशोधन) अधिनियम (1976) - इसके अन्तर्गत विवाह की आयु 15 वर्ष से बढ़ाकर 18 वर्ष तथा लड़कों के लिए 21 वर्ष कर दी गई है।

(6) हिन्दू अवयस्कता एवं संरक्षरता अधिनियम (1956)- इसके अन्तर्गत

i). 18 वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर व्यक्ति बालिग माना जाएगा।

ii) .संरक्षकों में पहला स्थान पिता का और उसके पश्चात् माता का स्थान आता हैं।

iii). पिता के साथ माता को भी यह अधिकार होगा कि, वह वसीयत द्वारा अपने नाबालिक बच्चों के लिए संरक्षक नियुक्त करें।

(7) हिन्दु गोद लेना तथा भरण पोषण का अधिनियम (1956)- इस अधिनियम के अनुसार

i).18 वर्ष की आयु पूरी करने वाला स्वस्थ पुरूष अपने पुत्र या पोते के अभाव में पत्नी की सहमति से लड़की को भी गोद ले सकता है।

ii).18 वर्ष की आयु पूरी करनी वाली स्वस्थ मन की स्त्री लड़का या लड़की को गोद ले सकती हैं, बशर्ते की उसके पुत्र या पुत्री न हो। विधवा, अविवाहित या तलाकशुदा स्त्री भी लड़के या लड़की को उपरोक्त दशाओं में गोद ले सकती है।

iii).भरण-पोषण प्रत्येक हिन्दू का कानूनी कर्तव्य है। इस अधिनियम के अनुसार वृद्ध या रोगग्रस्त माता-पिता, नाबालिग लड़कों तथा अविवाहित लड़कियों के भरण-पोषण के लिए पुत्र और पुत्री या स्त्री या पुरूष दोनों बाध्य हैं। पूर्व में भरण-पोषण सम्बन्धी नियम केवल पुत्र या पुरूष पर ही लागू होता था।

(8) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1956)- यह अधिनियम स्त्री को पुत्री, पत्नी तथा माता के रूप में जो साम्पत्तिक अधिकार मिले हैं,उनको स्पष्ट करता है। यह अधिकार निम्न हैं-

i).पत्नी के रूप में- विधवा स्त्री को भी अपने पति की सम्पत्ति पर सीमित नहीं, पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा।

ii).माता के रूप में- माता का पुत्र की सम्पत्ति में उनके पत्नी और बच्चों के समान एक भाग प्राप्त होगा।

iii).पुत्री के रूप में- यह अधिनियम दयाभाग तथा मिताक्षरा प्रणालियों को समाप्त कर लड़की को पुत्र के साथ, पुत्र के समान ही पिता की सम्पत्ति पर अधिकार प्रदान करता है।

(9) हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (1956)- इसके अनुसार विधवाओं की पुनर्विवाह सम्बन्धी कानूनी अड़चनों को दूर किया गया।

बोध-प्रश्न 4

i).हिन्दू विवाह अधिनियम पर संक्षिप्त विवरण दीजिए। तीन पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

9.6 सारांश

इस इकाई में हमने महिलाओं की ऐतिहासिक प्रस्थिति के संदर्भ में चर्चा करते हुए तत्कालीन समाज में उसकी उस स्थिति को बताया है, जब महिलाओं पर अनेक प्रकार की निर्योग्यताएं थोपी गयीं थीं और जो केवल अपने घर की चारदीवारी तक ही सीमित थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद महिलाओं की समाज में प्रस्थिति को चाहे जनांकिकीय और रोजगार पाने की दृष्टि से देखें या फिर उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और समाज में विशेष दायित्वों के कुशलतापूर्वक संचालन के नजरिये से देखें तो सभी जगह केवल यही बात विशेष रूप से उभर कर हमारे सामने आ रही है कि, भले ही आज पहले की तुलना में महिलाऐं अपनी दबी-कुचली और सहमी-सिमटी, बेचारी नारी के खोल को उतार कर एक मजबूत व्यक्तित्व और इरादों की स्वामिनी वाली छवि को प्रकट कर रही हैं और उसने समाज में अपनी शक्ति और सामर्थ्य को हर क्षेत्र में साबित भी किया है परन्तु आज भी स्त्री के आस-पास का माहौल उसको सुरक्षित होने का एहसास नहीं करवा पाया है। आज महिलाऐं अपने अधिकारों के लिए सचेत हैं लेकिन यह आज की सच्चाई है कि, इस अधिकार को पाने के लिए उसे एक लम्बी और कष्टदायक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जोकि इस बात की पुष्टि करता है कि, स्त्री के लिए समय अभी-भी पूरी तरह से बदला नहीं है। एक महिला के विरूद्ध होने वाले अपराधों और अत्याचारों को केवल कुछ कानूनों के द्वारा नहीं रोका जा सकता है। यह केवल कुछ समय के लिए इसे एक हद तक रोक सकने

में ही कामयाब सिद्ध हो सकते हैं। इस इकाई के अंत में हमने महिला की प्रस्थिति में परिवर्तन लाने के लिए सहायक बने उन संवैधानिक प्रावधानों के बारें में चर्चा की है , जिनसे आज महिलाऐं अपने अधिकारों के प्रति जागृत हुई हैं।

9.7 परिभाषिक शब्दावली

पितृसत्तात्मक- जिन परिवारों में सत्ता, अधिकार और नियंत्रण पिता और पुरूषों के हाथ में होता है।

बहुविवाह- एक पुरूष या स्त्री के एक समय में दो या दो से अधिक जीवन-साथी।

जन्म-दर- किसी क्षेत्र में किसी वर्ष प्रति हजार जनसंख्या पर जन्म लेने वाले शिशुओं की संख्या।

बहुपत्नी विवाह- पुरूष द्वारा एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह किया जाता है।

9.8 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

बोध-प्रश्न 1

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर महिलाओं की प्रस्थिति-ऐतिहासिक सन्दर्भ में शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 2

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर महिलाओं की प्रस्थिति द्योतक के शीर्षक में शैक्षणिक तथा जनांकिकीय प्रस्थिति के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 3

इस प्रश्न का उत्तर मुख्य समस्यायें शीर्षक के उपशीर्षक दहेज के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

बोध-प्रश्न 4

विद्यार्थी को इस प्रश्न का उत्तर संवैधानिक प्रावधान, विशेष कानून शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये विवरण में से लिखना है।

9.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

रमनए एस. ए. 2006, वूमेन एजुकेशनण् पे. 235-239. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इ्रडिया स्अेनले वालपोर्ट।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

शर्मा आर, मिश्रा एम. के. 2010. भारतीय समाज में नारी. अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस. नई दिल्ली

बेग, टी. ए., 1958, वोमेन इन इ्रडिया,, डीविसन गोंवमेंट ऑफ इंडिया. दिल्ली।

9.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

कुमार, मनीष. 2009. भारतीय नारी कल, आज और कल. ग्रेसी बुक्स प्रकाशन दिल्ली.

शर्मा पी. एन., झा एस. के., विनायक एण्ड विनायक. 2008. महिला सशक्तिकरण एवं समग्र विकास. भारत बुक सेन्टर. लखनऊ.

मिश्रा, एस., 2002, स्टेटस ऑफ इ्रडियन वोमेन, ज्ञान पब्लिकेश्न, नई दिल्ली।

सिंह , बी., वर्किंग वोमेन इन इ्रडिया, 2004, अनमोल पब्लिकेश्न, नई दिल्ली।

9.11 निबंधात्मक प्रश्न

1- वर्तमान में महिलाओं की विभिन्न प्रस्थितियों में आए परिर्वतनों का उल्लेख कीजिए।

2- विभिन्न युगों में महिलाओं की स्थिति का वर्णन करते हुए महिलाओं के लिए बनाए गए संवैधानिक प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 10- अनुसूचित जाति

Scheduled Caste

इकाई की रूपरेखा

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 अर्थ व परिभाषा

10.3 अनुसूचित जाति के समक्ष उपस्थित समस्याएँ- पूर्व एवं वर्तमान

10.4 अनुसूचित जाति के कल्याण के लिए उपाय

10.5 अनुसूचित जाति में सामाजिक गतिशीलता के भाव

10.6 सारांश

10.7 परिभाषिक शब्दावली

10.8 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

10.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

वर्तमान युग में सभी प्रबुद्ध लोग यह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति में निहित अधीनतावादी दृष्टिकोण हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है। इसी कारण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान इन शोषित वर्गों की दशा में व्यापक सुधार करने के प्रयत्न किये गये। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भारत के नये संविधान में अनुसूचित जातियां तथा अनुसूचित

जनजातियों की सुरक्षा के लिए विभिन्न प्रावधान करने के साथ ही अनेक ऐसे कानून बनाये गये जिससे इनके शोषण को रोका जा सके। विभिन्न विकास योजनाओं के द्वारा इन वर्गों के कल्याण को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की अवधारणा को स्पष्ट करके उनकी विभिन्न समस्याओं की विवेचना करेंगे तथा आगामी अध्याय में उन संवैधानिक तथा कानूनी सुरक्षाओं का उल्लेख करेंगे जिनकी सहायता से समाज के इन शोषित वर्गों की दशा में सुधार किया जा रहा है।

10.1 उद्देश्य

राष्ट्रपति द्वारा घोषित अनुसूची (Schedule) में जिन जातियों को सम्मिलित किया गया, उन्हीं को अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है। इन जातियों के चयन का आधार उनके व्यवसाय की अपवित्रता और उनसे जुड़ी हुई अस्पृश्यता की भावना थी। इसका तात्पर्य है कि शूद्र जातियों के अन्तर्गत जिन जातियों को अस्पृश्य मानते हुए उनका नाम एक विशेष अनुसूची में सम्मिलित किया गया, उन्हीं को हम अनुसूचित जातियाँ कहते हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने उन सभी जातियों को 'दलित वर्ग' के नाम से सम्बोधित किया था जो गरीब, शोषित और सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित है। आर्थिक आधार पर भी दलित जातियाँ उन पेशों के द्वारा आजीविका उपार्जित करती रही हैं जिनके द्वारा परिवार का भरण-पोषण कठिनता से ही सम्भव हो सकता है।

अस्पृश्य जातियाँ दलित जातियों का वह हिस्सा हैं जिनकी स्थिति शूद्र जातियों में निमजनतम रही। दूसरे शब्दों में, दलित वर्ग अनुसूचित जातियों की तुलना में अधिक व्यापक है। इस दशा को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जातियों में उन जातियों को सम्मिलित किया गया जिनमें पाँच लक्षण पाये गये- (1) जो जातियाँ उच्च जातियों तथा बहुत-सी शूद्र जातियों, जैसे-धोबी, नाई, दर्जी, कहार, धानुक, भुरजी, माली तथा सुनार आदि के भी स्पर्श और सम्पर्क से वंचित हों; (2) जो जातियाँ उच्च जातियों के स्पर्श और सम्पर्क से वंचित हैं; (3) जो जाति पर आधारित आनुवंशिक और गन्दे पेशे से अलग होने में असमर्थ हैं; (4) जिन्हें हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है तथा (5) जो सार्वजनिक स्थानों ओर वस्तुओं के उपयोग से वंचित हैं। यह सच है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अस्पृश्यता के आधार भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न रहे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि व्यावहारिक रूप से अनुसूचित जातियों का तात्पर्य उन जातियों से है जिन्हें परम्परागत रूप से अस्पृश्य जातियाँ कहा जाता रहा था। अस्पृश्य जातियों को परिभाषित करते हुए डॉ. के.एन. शर्मा ने लिखा है कि ''अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाये तथा उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करना पड़े।'' परम्परागत रूप से अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो बहुत-सी सामाजिक और राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं जिनमें से अधिकांश निर्योग्यताओं को धर्म और परम्परा के द्वारा निर्धारित करके सामाजिक रूप से उच्च जातियों द्वारा लागू किया गया

10.2 अर्थ व परिभाषाएँ

अनुसूचित जाति के अन्तर्गत विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न तरीके से अस्पृश्य जातियों को अपने शब्दों में व्यक्त किया है जो इस प्रकार है।

प्रो. मजूमदार ने अनुसूचित जातियों को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो विभिन्न सामाजिक व राजैनतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं जिनमें से अधिकतर निर्योग्यताओं को परम्परा द्वारा निर्धारित कर सामाजिक रूप से उच्च जातियों द्वारा लागू किया गया है।''

डॉ. कैलाश नाथ शर्मा के द्वारा ''अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जिसके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाता है और उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करने पड़ते हैं।''

अनुसूचित जाति की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि अस्पृश्यता समाज की अनुसूचित या निम्न जातियों के व्यक्तियों की सामान्य निर्योग्यताओं से सम्बन्धित है जिनके कारण इन लोगों को अपवित्र समझा जाता है और उच्च जातियों द्वारा इनका स्पर्श होने पर प्रायश्चित करना पड़ता है। इस प्रकार आप जान गये होंगे कि अस्पृश्यता का सम्बन्ध हरिजनों या अनुसूचित जातियों की इन निर्योग्यताओं से है जो उन पर सवर्ण हिन्दुओं द्वारा लादी गयी हैं।

10.3 अनुसूचित जातियों के समक्ष उपस्थित समस्याएँ:

पूर्व एवं वर्तमान

अनुसूचित जातियों की परम्परागत समस्याओं का तात्पर्य उन समस्याओं से है स्मृतियों के समय से लेकर किसी न किसी रूप में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक बनी रहीं। इन उल्लेख करते हुए पणिक्कर ने लिखा है, ''जाति प्रथा जब अपनी यौवनवसी में थी।

1. सामाजिक समस्याएँ:- अनुसूचित जातियों की सामाजिक समस्याओं का सम्बन्ध उन निर्योग्यताओं से है जिनके अनुसार उन्हें विभिन्न सामाजिक सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए अयोग्य मान लिया गया। इन जातियों को सवर्ण हिन्दुओं के साथ सम्पर्क रखने तथा सवर्ण जातियों द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली वस्तुओं का उपयोग करने से वंचित कर दिया गया। सार्वजनिक कुओं, तालाबों और पार्कों का उपयोग करने की उन्हें अनुमति नहीं दी गयी।

2. धार्मिक समस्याएँ:- अनुसूचित जातियों को अपवित्र मानकर उन्हें किसी तरह के धार्मिक आचरण करने की अनुमति नहीं दी गयी। केवल मन्दिरों में प्रवेश करने पर ही कठोर प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये बल्कि उनके लिए धर्मग्रन्थों का पाठ सुनना भी वर्जित कर दिया गया। मनुस्मृति में यह व्यवस्था दी गयी कि अस्पृश्य जातियों को न तो देवताओं का प्रसाद दिया जाय न उनके सामने पवित्र विधान की व्याख्या की जाये और न ही उन पर प्रायश्चित करने का भार डाला जाये।

3. आर्थिक समस्याएँ:- आर्थिक जीवन में अनुसूचित जातियों की स्थिति एक लम्बे समय तक बहुत दयनीय बनी रही। इन जातियों को केवल वे व्यवसाय करने की ही अनुमति दी गयी जो अत्यधिक अपवित्र होने के कारण सभी दूसरी जातियों के द्वारा त्याज्य थे। अस्पृश्य जातियों पर धन के संचय पर नियन्त्रण लगा दिया गया। सभी तरह की गन्दगी को साफ करना, मरे हुए पशुओं को उठाना और चमड़े से वस्तुएँ बनाने का काम ही उनकी आजीविका का साधन रह गया। इन सेवाओं के बदले पुराने कपड़े, बची हुई जूठन और बेकार की घरेलू वस्तुएँ देकर ही उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया।

4. राजनीतिक समस्याएँ:- राजनीतिक क्षेत्र में भी अनुसूचित जातियों की समस्याओं का रूप बहुत गम्भीर रहा। इन जातियों को शासन के काम में किसी भी तरह का हस्तक्षेप करने, कोई सुझाव देने, सार्वजनिक सेवाओं के लिए नौकरी पाने अथवा न्याय पाने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। सामान्य से अपराध के लिए उन्हें इतना कठोर दण्ड दिया जाने लगा।

अनुसूचित जातियों की वर्तमान समस्याएँ

भारत में अनुसूचित जातियों की समस्याओं को सबसे पहले यहाँ के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान अनुभव किया गया। यह पहला अवसर था जब डॉ. अम्बेडकर के प्रयत्नों से यह महसूस किया जाने लगा कि अनुसूचित जातियों की स्थिति में सुधार किये बिना उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा से नहीं जोड़ा जा सकता। इसके फलस्वरूप महात्मा गाँधी ने अस्पृश्य जातियों को हरिजन अर्थात् 'ईश्वर की सन्तान' कहकर उनके सामाजिक-आर्थिक शोषण को दूर करने पर विशेष बल दिया।

1. सामाजिक विभेद की समस्या:- व्यावहारिक रूप से आज भी ऊँची जातियों के लोग अनुसूचित जातियों से सम्पर्क और खान-पान के क्षेत्र में सम्बन्ध रखने में संकोच महसूस करते हैं। कानूनों के द्वारा अनुसूचित जातियों को हिन्दुओं के धार्मिक स्थानों में प्रवेश करने का पूरा अधिकार है लेकिन अनुसूचित जातियाँ आज भी इस अधिकार का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग नहीं कर पाती।

2. उच्च जातियों द्वारा शोषण:- अनुसूचित जनजातियों का लगभग 80 प्रतिशत भाग गाँवों में निवास करता है। गाँवों में उच्च जातियों के महाजन, बड़े भू-स्वामी और प्रभु जाति के लोग आज भी अनुसूचित जातियों का किसी न किसी रूप में सामाजिक आर्थिक शोषण कर रहे हैं। उन्हें अज्ञानता के कारण उन विकास योजनाओं का लाभ नहीं मिल पाता जिनकी सहायता से उनके जीवन में परिवर्तन हो सकता है।

3. हरिजन महाजनों द्वारा शोषण:- अनुसूचित जातियों के शोषण के लिए गाँव की उच्च जातियाँ ही उरदायी नहीं हैं बल्कि स्वयं अनुसूचित जातियों के अन्दर आर्थिक रूप से सम्पन्न एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ है जो निर्धन हरिजनों को बहुत भारी ब्याज पर ऋण देकर तथा बलपूर्वक ब्याज की वसूली करके हरिजनों का आर्थिक शोषण करने लगा है। हरिजन जाति के महाजन 1,000 रुपये के ऋण पर 50रु. से लेकर 100रु. तक महीना ब्याज के रूप में वसूल करते हैं, जबकि ऋण देते समय ही ब्याज की पहली किश्त काट ली जाती है। इस तरह ऐसे ऋण के लिए अनुसूचित जातियों के निर्धन लोगों को वर्ष में 100 प्रतिशत राशि ब्याज के रूप में देने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

4. आन्तरिक असमानता की समस्या:- सच्चिदानद, देसाई तथा बेली ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया कि स्वयं अनुसूचित जातियों के अन्दर ही अनेक असामानताएँ उत्पन्न हो गयी हैं। अनुसूचित जातियों के जिन लोगों ने शिक्षा प्राप्त करके प्रशासन या राजनीति के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया, वे अभिजन बन गये। इसके फलस्वरूप वे अपने आप को अनुसूचित जातियों से भिन्न एक अलग वर्ग मानने लगे। दूसरी समस्या यह है कि सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों के

विकास के लिए जो विशेष छात्रवृायाँ अथवा आरक्षण की सुविधाएँ दी जाती हैं, उनका एक बड़ा हिस्सा अनुसूचित जातियों के उन लोगों को मिल जाता है जो पहले से ही शिक्षित या आर्थिक रूप से सम्पन्न हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अनुसूचित जाति के सामान्य लोगों की स्थिति में अधिक सुधार नहीं हो सका।

5. अन्तर्जातीय तनाव की समस्या:- अनुसूचित जाति की समस्याओं का एक नया रूप अन्तर्जातीय संघर्ष के रूप में सामने आया है। ग्रामीण जीवन में अनुसूचित जातियों ने जब सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकार पाने के लिए अपने आप को संगठित करना शुरू किया तो उच्च जातियों द्वारा उनका अमानवीय दमन किया जाने लगा। अनुसूचित जातियों के लोगों की सामूहिक हत्या, आगजनी, महिलाओं के साथ अभद्र व्यवहार तथा जमीन से बेदखली आदि इसी दशा का परिणाम हैं।

6. अशिक्षा:- अनुसूचित जातियों के बच्चों में शिक्षा की वृद्धि करने के लिए उन्हें निःशुल्क छात्रावासों की व्यवस्था करने के बाद भी इन जातियों में साक्षरता की दर सबसे कम है। अशिक्षा के कारण अनुसूचित जातियों के लोग उन योजनाओं का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते जो उनका सामाजिक-आर्थिक विकास करने के लिए बनायी गयी हैं।

7. मद्यपान एवं नशीले पदार्थों की समस्या:- दूसरी जातियों की तुलना में आज भी अनुसूचित जातियों में मद्यपान तथा माद्रक द्रव्य व्यसन की समस्या सबसे अधिक गम्भीर है। एक ओर सरकार की आरक्षण नीति के कारण विभिन्न सेवाओं में अनुसूचित जातियों के प्रतिशत में वृद्धि हुई है तो दूसरी ओर, आर्थिक स्थिति में सुधार होने के साथ पुरुष वर्ग द्वारा अपनी आय के एक बड़े भाग को शराब, स्मैक, चरस, गाँजे या इसी तरह के किसी दूसरे नशीले पदार्थ के सेवन पर व्यय कर दिया जाता है।

8. राजनीतिक शोषण की समस्या:- हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विभिन्न समूहों की संख्या-शक्ति का विशेष महत्व है। अनुसूचित जातियों के अनेक प्रभावशाली व्यक्ति यह प्रयत्न करने लगे कि अनुसूचित जातियों को एक अलग गुट में संगठित करके उन्हें उच्च जातियों से इस तरह पृथक कर दिया गया जाये जिससे वे इसका राजनीतिक लाभ उठा सकें।

इन सभी समस्याओं के बाद भी यह सच है कि पहले की तुलना में आज अनुसूचित जातियों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हुआ। उनके बारे में अधिकांश हिन्दुओं के विचार और मनोव्रतियाँ तेजी से बदल रही हैं। यह एक ऐसा संकेत है जो भविष्य में अनुसूचित जातियों की स्थिति में उससे कहीं बड़ा परिवर्तन लायेगा जिसकी स्वतन्त्रता के समय आशा की गयी थी।

बोध प्रश्न 1

1.भारत में अस्पृश्यता की परम्परागत अवधारणा का सम्बन्ध निम्नलिखित में से किससे है?

.....
.....
.....
.....
.....

2. भारत में आज किन जातियों को अनुसूचित जाति कहा जाता है ?

.....
.....
.....

3. ''कास्ट इन इंडिया'' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

.....
.....
.....

4. सन् 1931 की जनगणना में हट्टन ने अस्पृश्य जातियों को किस नाम से सम्बोधित किया था ?

.....
.....
.....

5. वर्तमान में दलित जातियों का अभिप्राय किस जाति से है।

.....

.....

.....

10.4 अनुसूचित जाति के कल्याण के लिए उपाय

अनुसूचित जातियों का वास्तविक विकास तभी हो सकता है जब व्यवहारिक योजनाएँ बनाकर उन्हें ईमानदारी से लागू किया जाय। अनुसूचित जातियों के विकास पर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत बड़ी धनराशि व्यय की गयी लेकिन व्यय की तुलना में इनसे मिलने वाला लाभ बहुत कम है। इस दशा में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए निम्नांकित सुझाव अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं:

1. **आरक्षण का विकेन्द्रीकरण:-** अनुसूचित जातियों को उच्च जातियों के बराबर लाने के लिए आरक्षण जरूरी है। इसके बाद भी जिन व्यक्तियों को एक बार आरक्षण का लाभ मिल जाय, उनके बच्चों को आरक्षण की सुविधाएँ मिलना उचित नहीं है। इससे अनुसूचित जातियों के अधिक से अधिक परिवारों को आरक्षण की सुविधाओं का लाभ मिल सकता है।

2. **शिक्षा का प्रसार**:- आज भी अनुसूचित जातियों के अधिकांश बच्चे या तो बीच में ही अपनी शिक्षा छोड़ देते हैं अथवा वे केवल छात्रवृत्ति लेने के कारण स्कूल जाते हैं। इस दशा में यह आवश्यक है कि उनमें शिक्षा का प्रसार करने के लिए छात्रवृत्तियों की जगह उन्हें पाठ्य-पुस्तकों तथा निःशुल्क शिक्षा की सुविधाएँ दी जाएँ। ग्रामों में ऐसे बाल विकास केन्द्र खोले जायें जहाँ प्राथमिक शिक्षा देने के साथ इन बच्चों को पौष्टिक आहार और स्वस्थ मनोरंजन की सुविधा दी जा सके।

3. **स्व-रोजगार को व्यावहारिक बनाना**:- बैंकों के द्वारा अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के लिए ऋणों के साथ आर्थिक सहायता की सुविधा अधिक व्यवहारिक सिद्ध नहीं हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि इन जातियों के जो लोग अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये व्यवसाय करना चाहते हैं, उन्हें उन रोजगार का निःशुल्क प्रशिक्षण देने के साथ ही उससे सम्बन्धित उपकरण नाममात्र के मूल्य पर अथवा आर्थिक सहायता के रूप में दिया जायें।

4. **सफाई के नये उपकरणों का प्रयोग**:- सफाई कर्मचारियों को अत्यधिक अस्वास्थ्यकारी दशाओं में काम करना पड़ता है। उनके स्वास्थ्य के स्तर को सुधारने के लिए आवश्यक है कि सीवर

लाइनों तथा सफाई से सम्बन्धित दूसरे कार्यों के लिए उन्नत उपकरणों को काम में लाया जाय। इससे अनुसूचित जातियों के अतिरिक्त दूसरे जातियों के लोगों को भी सफाई सम्बन्धित सेवाएँ करने का प्रोत्साहन मिलेगा।

5. महिलाओं को कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण:- अनुसूचित जातियों की आर्थिक दशा में सुधार करने के लिए आवश्यक है कि नगरों तथा गाँवों में इन जातियों की महिलाओं को पशु-पालन, मछली-पालन, हथकरघा, रेशम-पालन, हस्तशिल्प, कढ़ाई-बुनाई, खाद्य पदार्थों के संरक्षण, पापड़ बनाने तथा इसी प्रकार के दूसरे गृह उद्योगों में प्रशिक्षित किया जाय।

6. समुचित आवास की व्यवस्था:- अनुसूचित जातियों की आवासीय दशाएँ आज भी बहुत चिन्ताजनक हैं। उनकी बस्तियों में पीने के पानी, पानी की निकासी तथा स्वास्थ्य सुविधाओं का बहुत अभाव है। इस दशा में यह आवश्यक है कि उनका ऐसे स्थानों पर पुनर्वास किया जाय जहाँ एक-दो कमरों वाले हवादार और स्वच्छ मकान उन्हें दिये जा सकें।

7. अत्याचारों से रक्षा:- ग्रामों में हरिजनों पर अत्याचारों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि जिन गाँवों में इस तरह की घटनाएँ होती रहती हैं, उन्हें संवेदनशील गाँव घोषित करके उन व्यक्तियों और समहू पर कड़ी निगाह रखी जाय तो इस तरह के अत्याचार करते हैं। स्थानीय प्रशासन को इसके लिए उत्तरदायी बनाना आवश्यक है।

8. जाति विरोधी राजनीति:- अनुसूचित जातियों के विकास में वर्तमान राजनीतिक मनोवृतियों बहुत अधिक बाधक हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आज अधिकांश हिन्दू अनुसूचित जातियों के साथ समता का व्यवहार करना चाहते हैं लेकिन अनेक नेता अपने स्वार्थों के कारण ऐसी राजनीति को बढ़ावा दे रहे हैं जिससे उच्च और निम्न जातियों के बीच पुनः अविश्वास और तनाव पैदा होने लगते हैं। इस तरह की राजनीति पर प्रभावी नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

9. हृदय परिवर्तन:- अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि उच्च जातियों के विचारों और व्यवहारों में परिवर्तन लाया जाय। यह काम प्रचार और शिक्षा के द्वारा किया जा सकता है। माध्यमिक स्तर की शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम में इन तथ्यों का समावेश किया जाना चाहिए कि हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता तथा जातिगत भेदभावों का कोई स्थान नहीं है, स्मृतियों में दिये गये विधान मौलिक हिन्दू धर्म के विरोधी हैं तथा लोकतन्त्र की सफलता के लिए

सामाजिक समानता आवश्यक है। जीवन के आरम्भ से ही यदि विद्यार्थी जातिभेद से सम्बन्धित रूढ़ियों की वास्तविकता को समझने लगेंगे तो अपने आप उनके विचारों और मनोवृत्तियों में सकारात्मक परिवर्तन हो जायेगा।

बोध प्रश्न 2

1. अनुसूचित जातियों के लिए किये गये संवैधानिक सुरक्षाओं को पांच पंक्तियों में व्यक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. अत्याचार निरोधक अधिनियम 1989 के उद्देश्यों के बारे में आप अपने विचार पांच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3. राज्य अनुसूचित जाति विकास निगम पर पांच पंक्तियों में अपने विचार लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 अनुसूचित जाति में सामाजिक गतिशीलता के भाव

विभिन्न विकास योजनाओ तथा स्वयं अनुसूचित जातियों में उत्पन्न होने वाली जागरूकता के फलस्वरूप उनकी स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है, उसी को हम 'अनुसूचित जातियों की सामाजिक गतिशीलता' कहते हैं। सारोकिन के अनुसार यह गतिशीलता दो तरह की होती है। एक को आरोही सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है और दूसरी को अवरोही सामाजिक गतिशीलता। आरोही गतिशीलता वह है जो पहले की तुलना में ऊँची स्थिति को स्पष्ट करती है। यदि किसी समूह अथवा व्यक्ति की स्थिति पहले की तुलना में नीची हो जाये, तब इसे अवरोही गतिशीलता कहा जाता है।

इन कारकों के प्रभाव से अनुसूचित जातियों के जीवन में अनेक परिवर्तन हुए हैं। सर्वप्रथम, उनकी सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन हुआ है। अनुसूचित जातियाँ आज अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उच्च जातियों की दया पर निर्भर नहीं हैं बल्कि स्वतन्त्र रूप से आजीविका उपार्जित करके उन्होंने अपने आत्म-सम्मान को बढ़ाया है। दूसरे, विभिन्न जातियों के साथ उनके सम्पर्क और अन्तर्क्रियाओं की प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। विभिन्न जातियों के बीच खान-पान और सामाजिक सम्पर्क सम्बन्धी विभेद तेजी से कमजोर पड़ते जा रहे हैं। अनुसूचित जातियों के लोग भी अपने बच्चों को शिक्षा देकर उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार करके समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। चौथे, अनुसूचित जातियों की बहुत-सी महिलाओं द्वारा नौकरियाँ करने के कारण उनके पारिवारिक जीवन में एक स्पष्ट परिवर्तन हुआ है।

10.6 सारांश

अनुसूचित जाति के उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट होता है कि अनुसूचित जाति के इस अध्याय में हमने कई बिन्दुओं पर अपने विचार प्रस्तुत किये और उम्मीद करते हैं कि आपके संज्ञान में इस अध्याय को पढ़कर तथा प्रश्न एवं उत्तर को पढ़कर विभिन्न प्रकार की जानकारियाँ प्राप्त हो जायेंगी। आपको सूक्षम रूप से इस अध्याय के अन्तर्गत जो बातें रखी गई हैं उसे मैं अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करती हूँ कि हमारे देश में विभिन्न प्रकार के धर्म, जाति के लोग रहते हैं, और भारतीय समाज में उनका स्थान भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त किया गया है जबकि सामाजिक व न्यायिक तौर पर न्याय सभी नागरिकों के लिए समान है। हमारे कुछ मौलिक अधिकार हैं जिनका उपयोग हम सभी भारत के नागरिक कर सकते हैं।

परन्तु अनुसूचित जाति को आज भी आन्तरिक तौर पर सामाजिक रूप से निम्न श्रेणी में रखा जाता है। इसके लिए हमारे भारतीय संविधान के अन्तर्गत विभिन्न प्रावधानों एवं अनुच्छेदों द्वारा इन्हें विशेष अधिकार व सुविधायें प्रदान की गई हैं। राजनीति से विभिन्न नौकरियों में इनके स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। विधान मण्डलों तथा पंचायतों में इनको प्रतिनिधित्व मिला है। राष्ट्रीय आयोग की स्थापना के तहत इनको विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं। कानूनी सुरक्षा के साथ-साथ इनका विशेष ध्यान रखा गया है। इनके लिए संसदीय समिति गठित की गई है। इनके कल्याण के लिए अलग-अलग विभाग खुले हैं। स्वयंसेवी संगठनों का निर्माण किया गया है। विकास नीति बनाई गई है। विशेष केन्द्रीय सहायता केन्द्र की व्यवस्था की गई है। बालक-बालिकाओं के लिए छात्रावास योजना, पुस्तक बैंक योजना, 10वीं कक्षा के बाद छात्रवृत्तियाँ, विदेश पढ़ने के लिए दी जाने वाले छात्रवृतियां, सफाई कर्मचारियों की मुक्ति और पुनर्वास योजना इत्यादि द्वारा इनके उज्जवल भविष्य की व्यवस्था सुचारू रूप से जारी है।

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

अनुसूचित:- ''अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो विभिन्न सामाजिक व राजनैतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित है जिनमें से अधिकतर निर्योग्यताओं को परम्परा द्वारा निर्धारित करके सामाजिक रूप से उच्च जातियों द्वारा लागू किया गया है।''

अनुच्छेद 17:- इस अनुच्छेद के अन्तर्गत अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और इसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा, जो कानूनी रूप से दण्डनीय होगा।

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. पवित्रता-अपवित्रता की आवधारणा से।
2. परम्परा द्वारा शोषित रही है।
3. जे.एच. हट्टन।
4. बाहरी जाति।
5. शूद्र वर्ण से सम्बन्धित सभी जातियाँ।

बोध प्रश्न 2

1. जैसा कि हम जानते हैं कि अनुसूचित जातियों की विकट परिस्थितियों को समाप्त करने एवं उन्हें उचित न्याय व सम्मान दिलाने हेतु हमारी भारत सरकार ने कुछ संवैधानिक सुरक्षायें प्रदान की हैं जैसे:-

II) संवैधानिक प्रावधान के अन्तर्गत अनुच्छेद 15, अनुच्छेद 17, अनुच्छेद 25, अनुच्छेद 19, अनुच्छेद 29, अनुच्छेद 46, अनुच्छेद 338 के द्वारा विभिन्न अधिकारों को प्रदान किया गया है तथा न्याय दिलाने की बात कही गयी है।

III) विधान मण्डल तथा पंचायतों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है।

IV) सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है।

2. आप अनुसूचित जाति के अध्याय को पढ़ने के बाद इस बात से परिचित हो गये होंगे कि अनुसूचित जाति के अत्याचार को रोकने के लिए राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई है जिसके निम्न कार्य हैं:-

I) कानून द्वारा प्राप्त सुरक्षा की जानकारी लेना।

II) अनुसूचित जातियों को मिलने वाले अधिकारों व असुरक्षाओं से वंचित किये जाने पर जांच पड़ताल करना।

III) संसद द्वारा समय-समय पर इन वर्ग को कानूनी संरक्षण प्रदान करना इत्यादि।

3. इस निगम के अन्तर्गत अनुसूचित जाति के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। केन्द्रीय सरकार ने 1978-79 में यह व्यवस्था की जो राज्य सरकारें गरीबी की सीमा रेखा से नीचे के अनुसूचित जाति या जनजाति के विकास के लिए निगमों की व्यवस्था करेगी कि उन्हें 49 सहायता भारत सरकार द्वारा प्रदान की जायेगी। इसके अन्तर्गत इस वर्ग के लोगों को व्यवसाय के नये अवसर प्रदान किये जायेंगे, स्वच्छ मकानों का निर्माण किया जायेगा तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा ऋण देने का प्रावधान भी किया गया है।

10.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

भारतीय सामाजिक समस्याएँ:- जी.आर. मदान, विवेक प्रकाशन

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय समाज:- मुद्दे व समस्याएँ- महाजन व महाजन, विवेक प्रकाशन

2. जनजातीय भारत:- नदीम हसनैन- जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. अनुसूचित जाति का अर्थ स्पष्ट करें एवं उनकी वर्तमान समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

2. अनुसूचित जाति के कल्याण हेतु किए गए उपायों का वर्णन कीजिए।

इकाई – 11- अनुसूचित जनजातियॉ
Scheduled Tribes

इकाई की रूपरेखा

11.0 परिचय

11.1 उद्देश्य

11.2 जनजाति की परिभाषा

11.3 अनुसूचित जनजाति

11.4 जनजातीय समाज की विशेषताएँ

11.5 भारत में जनजातीय वर्गीकरण

11.6 जनजातियों की सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक व्यवस्था

11.7 परिवार

11.8 विवाह

11.9 नातेदारी

11.10 धर्म

11.11 जनजातियों की राजनीतिक व्यवस्था

11.12 सारांश

11.13 अभ्यास प्रश्न

11.14 संदर्भ ग्रन्थ

11.0 परिचय

जनजातियॉ अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक शैली के कारण शुरू से ही भारतीय समाज में अध्ययन का केन्द्र रही हैं। जनगणना 2001 के अनुसार जनजाति जनसंख्या देश की कुल जनसंख्या के 8.2

प्रतिशत भाग का प्रतिनिधित्व करती है। अंग्रेजी का शब्द ट्राइब (जनजाति) लैटिन भाषा के शब्द 'ट्राइबस' से बना है। मूलतः इसका अर्थ रोमन लोगों का विभाजन ट्राई या तीन भागों में करने से था, बाद में इसका प्रयोग 'निर्धन' या 'जन - जन' के लिए किया जाने लगा। प्रथाऐं, परम्परायें, रीति-रिवाज, विष्वास तथा धार्मिक कृत्य जनजाति समाज को एक विषिष्टता प्रदान करते हैं तथा जो प्रत्येक जनजाति समूह की भिन्न एवं अनोखी पहचान होती है। अपनी सॉस्कृतिक विविधता एवं विष्ष्टिता के कारण जनजाति समूहों को गिरिजन, वन जन, आदिवासी, वनवासी, आदिमजाति एवं अनुसूचित जनजाति इत्यादि भिन्न नामों से जाना जाता है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पायेंगे -

- जनजाति की क्या अवधारणा है ?
- जनजातीय समाज के विविध वर्गीकरण।
- जनजातीय समाज की विशेषताएं।
- जनजातीय समाज की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक संगठन का स्वरूप।
- जीवन साथी चुनने के तरीके तथा नातेदारी व्यवहार प्रतिमान के प्रचलित स्वरूप।

11.2 परिभाषा

किसी भी मानव समूह को निश्चित गुणों के आधार पर परिभाषित करना सबसे जटिल काम होता है। मानव शास्त्रियों, समाजषास्त्रियों तथा अन्य समाज वैज्ञानिकों ने जनजाति समूह को अपने - अपने तरीके से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ परिभाषाऐं इस प्रकार है:-

इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया के अनुसार, 'जनजाति' समान नाम धारण करने वाले परिवारों का एक संकलन है, जो समान बोली बोलते हों, एक ही भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों तथा जो साधारणतया अन्तर्विवाही न हों यद्यपि मूल रूप में चाहे वैसे रह रहे हों'।

आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार, 'जनजाति' विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो कि एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हों तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हैं'।

लूसी मेयर के अनुसार, 'जनजाति' समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतन्त्र राजनीतिक विभाजन है।

राल्फलिंटन के अनुसार, 'जनजाति' अपने सरलतम स्वरूप में दलों का एक समुदाय है जो कि समीपवर्ती क्षेत्रों में निवास करते हैं, जिनमें एकता की भावना होती है, जो अनेक समानताओं, समाज अभिरूचि व मैत्रीपूर्ण संबंधों के कारण उदित होती है।

स्पष्ट है कि जनजाति समाज या समूह को किसी निष्चित मानक या मानकों के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता है। नदीम हसनैन लिखते हैं कि जनजाति की अवधारणा के क्षेत्रीय गुणार्थ को दृष्टि में रखते हुए अर्न्तराष्ट्रीय अथवा विष्वव्यापी स्तर से हट जाना अधिक अच्छा होगा तथा अपनी समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय परिपेक्ष्य के अर्न्तगत ही मानकीकरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान केंन्द्रित करना ठीक होगा।

11.3 अनुसूचित जनजाति

जनजातीय समाज की विषुद्ध भौगोलिक पृथकता, विषिष्ट सॉस्कृतिक शैली एवं जीवन शैली ही इसे अन्य समाजों से अलग करती है। अनुसूचित जनजाति का संबोध जनजातियों की संवैधानिक स्वरूप का प्रतीक है। संविधान में इस विषिष्ट सामाजिक समूह को अनुसूचित जनजाति की संज्ञा दी गई है। सिंधी व गोस्वामी लिखते हैं कि अनुसूचित का अर्थ न तो पिछड़ा हुआ है और न ही उन्नत बल्कि सरकार ने 1935 में जनजातियों की एक ऐसी सूची बनाई थी जिनके विकास की सरकार को चिंता थी तथा जिन्हें विभिन्न आयामों से विकसित करना था। संविधान के अनुच्छेद 342 के अंर्तगत जिन जनजाति समूहों को सम्मिलित किया गया उन्हें अनुसूचित जनजाति की संज्ञा दी गई है। संविधान के अन्तर्गत इन अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक - सॉस्कृतिक व आर्थिक अधिकारों के संरक्षण, संबर्द्धन तथा विकास पर अत्यधिक बल दिया गया है।

11.4 जनजाति समाज की विशेषताएँ

भारतीय समाज एक बहुसंस्कृति एवं बहुआयामी समाज है। इस विविधता को देखते हुए इसे मानव समूहों का अजायबघर कहना अनुचित नहीं बल्कि उचित ज्यादा प्रतीत होता है। प्रत्येक समूह की अपनी विषिष्टता ही उसे अन्य समूहों से भिन्न करती है। जनजातीय समाज की बहुलता, विविधता एवं परिभाषाओं के आधार पर सिंधी व गोस्वामी ने निम्नलिखित विशेषताओ का वर्णन किया है:

11.4.1 नाम परिचय - प्रत्येक जनजाति का एक विशिष्ट नाम होता है जिसके आधार पर उस सामाजिक समूह को जाना जाता है।

11.4.2 भौगोलिक पृथकता -प्रत्येक जनजाति का एक निश्चित भौगोलिक निवास होता है जिसके अधार पर उसकी स्थानीयता की पहचान होती है। स्पष्ट है कि थारू जनजति या अन्य जनजातीय समूहों की उपस्थिति देष के कुछ हिस्से में पायी जाती है न कि संपूर्ण भोगोलिक परिवेष में।

11.4.3 आर्थिक व राजनीतिक स्वायत्तता - जनजाति की आर्थिक व राजनीतिक स्वायत्तता होती है अर्थात् वह राजनीति व आर्थिक मामलों के लिए अन्य समूहों पर निर्भर नहीं रहती है। प्रत्येक जनजाति की परंपरागत पंचायत परिषद् होती है जो उस समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं का नियमन व नियंत्रण करती है।

11.4.4 बंद समाज - जनजातीय समाज बहुल समाज से सदैव पृथकता बनाये रखती है अर्थात् किसी भी बाहरी व्यक्ति का अपनी सामाजिक व्यवस्था में दखल व सदस्य के रूप में प्रवेष को अस्वीकार करते हैं।

11.4.5. सामाजिक समानता - जनजाति की सामाजिक सरंचना में एक बड़ी सीमा तक स्तरीकरण नहीं पाया जाता। सामाजिक समानता ही एक जनजाति के सदस्यों के आपसी संबंध को अत्यधिक दृढ़ता प्रदान करती है। हालांकि, स्तरीकरण का प्रारूप आयु, लिंग जैसे कारकों के रूप में देखने को मिलता है।

11.4.6 उत्पादन के साधन पर समान अधिकार - समान स्वामित्व की भावना तथा उत्पादन के साधनों का समान उपयोग, संबंधों की व्यवहारिकता को अधिक मजबूती प्रदान करता है। न कोई मालिक होता है और न कोई श्रमिक।

11.4.7 नातेदारी का प्रावल्य - जनजातीय समाज मुख्यतः बंधुत्व पर आधारित होता है। नातेदारी में परस्परता व एकरूपता होती है न कि संस्तरण व बहुरूपता।

11.4.8 शक्ति उपयोग - जनजातीय समाज संरचना में शासन, जन साधारण से प्रथक उनके ऊपर शासकीय संस्था के रूप में नहीं पाया जाता। इसलिए इन समाजों में व्यक्ति व समूह अपनी सुरक्षा के लिए बल प्रयोग कर लेते हैं।

11.4.9 विषिष्ट संस्कृति व लिपि विहीनता - विषिष्ट सांस्कृतिक पहचान ही एक जनजाति समूह को दूसरे जनजाति समूह से अलग रखती है। जनजाति के लोग सामान्यतः निरक्षर, व लिपिविहीन होते हैं व परंपरागत ज्ञान पर निर्भर रहते है।

11.4.10 धर्म व जादू - प्रत्येक जनजाति में उसका अलग धर्म / जादू व धार्मिक परंपराऐं होती हैं जो उस जनजाति के लोगों तक ही सीमित होती हैं, वे प्रायः गोपनीय होती है व सदस्यों को संगठित करती हैं।

11.4.11 स्थिरता - ये समाज प्राय स्थिर होते हैं उसमें परिवर्तनषीलता प्रायः नहीं है, इसीलिए इन्हें अ- हिस्टोरिक भी कहा है, अतः इनकी संस्कृति को जानने का अर्थ है आदि मानव की मूल संस्कृति को जानना।

जनजाति समाज की उपरोक्त विषेषताऐं सम - सामयिक परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन की प्रक्रिया में है, इसीलिए इन्हें सार्वभौमिक जनजातीय समाज के रूप में परिलक्षित करना कठिन है। इसीलिए आन्द्रे विताई, एस.सी. दुबे, मजूमदार व देषाई ने लिखा है कि विषुद्ध मानवषास्त्रीय अर्थ में कोई समूह अब 'जनजाति' के रूप में नहीं है बल्कि 'संकाृन्तिकालीन जनजाति' है जिसकी मूलभूत विषेषताएं अनेक आधुनिक संर्पकों के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया में है।

11.5 भारत में जनजातीय वर्गीकरण

जनजातीय समाज की विविधता एवं भौगोलिक पृथकता के आधार पर इन समाजों को किसी एक मानक या आधार पर वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। फिर भी विभिन्न समाज वैज्ञानिकों ने अपने - अपने तरीकों के आधार पर जनजातीय भारत को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है जिसमें से कुछ निम्नवत हैं:

11.5.1 भोगौलिक आधार - जनजातीय जनसंख्या की बहुलता, विवरण व विविधता को देखते हुए बी. एस. गुहा ने देश के जनजातीय समाज को तीन क्षेत्रों में वर्गीकृत किया हैः (अ) उत्तरी तथा उत्तरपूर्वी क्षेत्र - इसमें हिमालय तथा भारत के उत्तर पूर्वी सीमाओं की पहाड़ी घाटियॉ सम्मिलित हैं। क्षेत्र में आका, मीरी, खासी, गारो, जयन्तिया, थारू, लेप्चा, इत्यादि प्रमुख जनजातियॉ निवास करती हैं।

(ब) केन्द्रीय अथवा मध्य क्षेत्र-इस भाग के अर्न्तगत पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, झारखण्ड, महाराष्ट्र छत्तीसगढ़ राज्य में निवास करने वाली जनजातीय जनसंख्या आती है। यह क्षेत्र बृहद् जनजातीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है। देश की प्रमुख जनजातियॉ संथाल, गोंड, भील, अगरिया, भिलाला, बैगा, खारिया, असुर, मल-पहारिया, ओरांव, कोल, आदि यहॉ निवास करती हैं।

(स) दक्षिणी क्षेत्र - यह क्षेत्र दक्षिण भारत के उस भाग को सम्मिलित करता है जो कृष्णा नदी के दक्षिण में है तथा जो वाइनाड से केप केमरिन तक फैला हुआ है। आंध्रप्रदेष, कर्नाटक, कुर्ग, ट्रावनकोर, कोचीन, तमिलनाडु आदि इस क्षेत्र में आते हैं। चेचू, टोड़ा बडागा, कादर, इरूला, कुरूमा, कोटा, पलियन इत्यादि जनजातियॉ इस क्षेत्र में निवास करती हैं।

कुछ जनजातियों की सुदूरगामी क्षेत्र में निवास करने के कारण इस परिधि से बाहर रखा गया है जैसे अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूहों मे रहने वाली मुख्य जनजातियॉ जारवा, औगे, उत्तरी सेन्टीनलीज, अण्डमानी, शाम्पेन तथा निकोबारी हैं। जनजातीय जनसंख्या, जम्मू व काष्मीर, पंजाब व हरियाणा तथा केन्द्र शासित प्रदेषों दिल्ली, पाण्डिचेरी व चंडीगढ़ में नहीं पाई जाती है।

11.5.2 भाषायी आधार - भाषा के आधार पर संपूर्ण भारतीय जनसंख्या का विभाजन चार भाषायी परिवारों में किया जाता है। ये हैं भारतीय - यूरोपीय (आर्य), आस्ट्रिक (निषाद्), द्रविड और तिब्बत - चीनी (किरात) परिवार। एल. पी. विद्यार्थी व राय ने भाषा के आधार पर जनजातियों को चार भाषायी परिवारों में वर्गीकृत किया है जो इस प्रकार है

(अ) एस्ट्रो - एशियाटिक परिवार - इस परिवार की बोलियॉ मुण्डा भाषा परिवार के रूप में भी जानी जाती हैं। इनमें खासी, निकोबारी, मुण्डा, सन्थाल, है। खारिया, भूमिज, खोण्ड व गडाबा जैसी जनजातियॉ आती हैं।

(ब) तिब्बत - चीनी परिवार - इनमें खम्पाती, भोटिया, लेपचा, टोटो, नागा, आका, अबोर, मिष्मी, आदि जनजातियॉ है। उत्तर पूर्वी भारत के अन्य भागों की जनजातियॉ इस परिवार की एक न एक बोली बोलती हैं।

(स) द्रविड परिवार - इस परिवार की सर्वाधिक विकसित भाषाऐं तमिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम हैं। कोरबा टोडा, कोटा, उडीसा के कोंघ तथा छोटा नागपुर के ओरांव आदि जनजातियॉ आती हैं।

(त) भारतीय योरोपीय परिवार – देश की गैर जनजातीय जनसंख्या का यह वृहद् परिवार है । इसमें हाजोंग व भील जनजातियॉ आती हैं।

11.5.3 प्रजातीय आधार - हटट्न, गुहा व मजुमदार ने प्रजाति के आधार पर जनजातियों को वर्गीकृत किया है। भारतीय जनसंख्या को प्रजातीय आधार पर वर्गीकृत करने का प्रथम प्रयास सर हरबर्ट रिजले द्वारा किया गया था। उन्होंने अपनी खोज को 'Peoples of India' नामक पुस्तक में 1916 में प्रकाषित कराया। वह समस्त भारतीय जनसंख्या को निम्नलिखित प्रजातीय प्रकारों में वर्गीकृत करते हैं

(I) टर्को ईरानी

(II) भारतीय - आर्य

(III) स्कीथो- द्रविड

(IV) आर्य - द्रविड

(V) मंगोल - द्रविड

(VI) मंगोली

(VII) द्रविड

11.5.4 आर्थिक आधार - देश के सुदुर पर्वतीय तथा घने जंगलों में निवास करने वाली जनजातियॉ जीवन-यापन हेतु विभिन्न आर्थिक क्रिया-कलापों का संयोजन करती हैं। आर्थिक आधार पर किसी भी एक जनजाति को एक निश्चित आर्थिक क्रिया जो जीवन - यापन से जुडी है सीधे नहीं बांधा जा

सकता है। एक ही जनजाति जीवन - यापन के विभिन्न स्रोतों को अपनाती है। थर्नवाल्ड द्वारा प्रस्तुत योजना को भारतीय संदर्भ में सर्वाधिक स्वीकार्य माना जाता है जो इस प्रकार हैः

1. पुरूषों के सजातीय शिकारी समुदाय तथा जाल डालने वाले, महिलाएं, संग्रहकर्ता के रूप में। चेन्चू, खरिया तथा कोरवा जनजातियां इस श्रेणी में आती हैं।

2. शिकारियों, जाल डालने वाले तथा कृषकों के सजातीय समुदाय कामार, बैगा तथा बिरहोर भारत के कुछ उदाहरण हैं।

3. शिकारियों , जाल डालने वाले कृषकों ओर शिल्पियों के श्रेणीकृत समाज- अधिकांश भारतीय जनजातियां इस श्रेणी में आती हैं। चेरों तथा अगरिया तमाम ऐसी जनजातियां शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

4. पशु पालक - टोडा तथा बृहद् भीलों की कुछ उपजातियॉ भारत में ऐसी श्रेणी का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

5. सजातीय शिकारी तथा पशुपालक - इस श्रेणी का भारतीय जनजातियों में प्रतिनिधित्व नहीं है। टोडा शिकार नहीं करते और न तो वे मछली या चिड़ियॉ पकड़ते हैं ।

6. नृजातीय दृष्टि से स्तरीकृत पशुओं का प्रजनन एवं व्यापार करने वाले उत्तरप्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया, याक का प्रजनन करवाते हैं तथा घूमने वाले व्यापारी हैं।

7. सामाजिक दृष्टि से श्रेणीबद्ध पशुपालक शिकारी (कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या सहित)

11.5.5 सांस्कृतिक आधार - एक जनजाति का दूसरी जनजाति समूह के संपर्क में आने से उसकी संस्कृति में परिवर्तन सुनिष्चित है। जहॉ यह परिवर्तन शहरी क्षेत्र में तेजी से बढ़ रहा है वही सुदूर गॉव में रहने वाली जनजाति जनसंख्या आज भी परंम्परा को संजोने का प्रयत्न कर रही है। सॉस्कृतिक संपर्क के आधार पर पॉचवें दषक में वेरियर एल्विन ने चार प्रकार के आदिवासियों का वर्णन किया है-

1. जो सर्वाधिक आदिम है तथा एक संयुक्त सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा कुल्हाडे से कृषि करते हैं।

2. वे, जो यद्यपि अपने एकाकीपन तथा पुरातन परंम्परा से समान रूप से जुड़े हुए हैं, अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक है, कुल्हाडे से कम ही कृषि करते है, बाह्य जीवन में अधिक अभ्यस्त हैं तथा सामान्तय प्रथम वर्णित श्रेणी की अपेक्षा कम सरल तथा ईमानदार है।

3. वे, जो, संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक हैं जो बाह्य प्रभाव के कारण अपनी जनजातीय संस्कृति, धर्म तथा सामाजिक संगठनों की क्षति के कारण पहचान खो रहे है।

4. भील व नागा जैसी जनजातियॉ जो देष की प्राचीन कुलीनता की प्रतिनिधि कही जाती हैं, जो अपने मूल जनजातिय जीवन को बचाये हुए हैं तथा जिन्होंने संस्कृति संपर्क की लड़ाई को जीत लिया है।

स्पष्ट है कि अधिकांश जनजातीय समूह हिन्दुओं के सांस्कृतिक व्यवहारों से प्रभावित हो गई है। प्रमुख जनजातियॉ संथाल, ओसेव, व गोंड हिन्दुओं की व्यवस्था से काफी प्रभावित हैं। वहीं पर भीलों व नागा जनजातियॉ हिन्दुओं की परंपराओं से दूर है, अप्रभावित हैं।

11.6 जनजातियों की सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक व्यवस्था

सामाजिक संस्थाएं प्रत्येक समाज की सामाजिक व्यवस्था को एक मजबूत आधार प्रदान करती है। यह संस्थाएं ही उस समाज को विषिष्टता और पहचान देती है। परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म तथा राजनीतिक संगठन का जनजातीय समाजों में एक अनोखा स्थान होता है। यहां पर आपको इन प्रमुख एवं महत्वपूर्ण जनजातीय सामाजिक व्यवस्थाओं के बारे में बताया जा रहा है।

11.7 परिवार

सामाजिक संरचना की सबसे छोटी इकाई परिवार होता है। किसी भी ज्ञात मानव समूह में किसी न किसी प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था पायी जाती है। रीति-रिवाजों की विविधता तथा नियम ही एक जनजातीय समूह को दूसरे जनजातीय समूह से पारिवारिक संरचना से भिन्न रखते हैं सदस्यों की संख्या तथा पारिवारिक प्रणाली की संरचना के आधार पर समाज वैज्ञानिकों ने जनजातीय समाज में परिवार को वर्गीकृत करने के प्रयास किये हैं जो मूलतः निम्नवत है-

1. **निवास के आधार पर** - परिवार पितृ स्थानीय Patrilocal तथा मातृ स्थानीय Matrilocal होते हैं।

2. **सत्ता के आधार पर** - परिवार में निर्णय लेने की अधिकारीक संरचना के आधार पर परिवार पितृ सत्तात्मक (पुरूष प्रधान) तथा मातृ सत्तात्मक (महिला प्रधान) होते है। केरल के नायर, तथा मेघालय की खासी आदि जनजातिया मातृ सत्तात्मक व्यवस्था की वाहक रही है।

3. **आकार के आधार पर** - सदस्यों की संख्या अर्थात पीढी गत संरचना के आधार पर परिवार एकाकी व संयुक्त परिवार होते हैं केरल के नायर की ' थारवाड' व्यवस्था संयूक्त परिवार प्रणाली का जीता जागता उदाहरण है।

4. **उत्तराधिकार के आधार पर** - पारिवारिक सत्ता व संपत्ति के हस्तांतरण के आधार पर परिवार पितृवंषीय तथा मातृवंषीय होते है। खासी, गारो व जयंतिया जनजातियों में संपत्ति का उत्तराधिकार लड़कियों के दिया जाता है।

5. **विवाह के आधार पर** - वैवाहिक संरचना के आधार पर परिवार एक विवाही तथा बहुविवाही होते हैं । ऐसे भी समाज है जहॉ पर एक स्त्री के एक से अधिक पति (नायर व खस जानजातियां) तथा एक पुरूष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं।

11.8 विवाह

स्त्री व पुरूष के बीच यौन संबधों को वैधानिकता प्रदान करना ही विवाह संस्था का प्रमुख कार्य है । जनजातीय समाजों में विवाह की पद्धति तथा तरीके सामाजिकता के विविध रूपों को प्रस्तुत करते हैं । यौन संबंधों की स्वछन्दता ने कई मानव शास्त्रियों तथा समाज वैज्ञानिकों में जनजातीय वैवाहिक परंपरा के प्रति एक संदेह जनक एवं विरोधाभाषी विचार को जन्म दिया है । किंतु आधुनिक समाज से परे जनजातीय भारत, विवाह संस्था के परंपरागत तरीकों के आज भी अपनाने का प्रयास कर रहा है । बहु विवाह के दो विविध रूप जनजातियों में देखने को मिलते हैं-

(अ) बहुपत्नी विवाह तथा (ब) बहुपति विवाह

बहुपति विवाह को रोचकता तथा विविधता ही जनजाति को एक विषिष्ट एवं अलब पहचान देती है। बहुपति विवाह प्रणाली पुनः दो भागों में विभाजित होकर भ्रातत्व बहुपति विवाह Fraternal

Polyandary तथा अभ्रातत्व बहुपति विवाह Non-Fraternal Polyandary प्रणालियों को विकसित करता है । टोडा जनजाति में प्रायः एक स्त्री के सभी पति आपस में सगे भाई ही होते है वहीं पर नायर में स्त्री के प्रति प्रायः आपस में भाई नहीं होते हैं।

बहुपति विवाह प्रणाली की मुख्य समस्या पितृत्व निर्धारण को लेकर होती है, जहॉ पर होने वाले बच्चे के जैविकीय पिता का निर्धारण परंम्परा के संदर्भ में होता है और यह निर्धारण ही जैविकीय पिता Biological Fatherतथा सामाजिक पिता ;Social Father अर्थात ' जैनीटर' व 'पीटर' की अवधारणा को बल देता है। टोडा जनजाति में भावी पिता 'पुरसुतपिमी संस्कार' के संदर्भ में गर्भवती पत्नी को घनुष - बाण प्रतीकात्मक रूप से भेंट में देता है और इस प्रकार होने वाले बच्चे के जैविकीय पिता (जैनीटर) का दर्जा हासिल कर पाता है।

विवाह के विभिन्न प्रकार, शैली तथा जीवन साथी चुनने के तरीके, जनजातीय समाज की एक अलग पहचान बनाते हैं । परंम्पराएं, रीति-रिवाज, व धार्मिक गतिविधियॉ, वैवाहिक व्यवहारों को और जटिलता एवं दृढ़ता प्रदान करती हैं।

11.8.1 अधिमान्य विवाह तथा निषेध - प्रत्येक समाज यौन संबधों को कतिपय नातेदारों के बीच निषिद्ध करता है साथ ही साथ कतिपय नातेदारों के बीच वैवाहिक यौन संबंधों को प्रोत्साहित करता है अर्थात् जनजातीय परंम्परा के अनुसार कुछ विषिष्ट रिष्तेदारों के लड़के व लड़कियों के बीच वैवाहिक संबंधों को मान्यता दी जाती है। यह मान्य जनजातीय विवाह संबंध ही अधिमान्य विवाह कहलाते है। जैसे कुछ जनजातियों में मामा की लड़की व बुआ के लड़के के साथ विवाह करना उचित माना जाता है। देवर - भावी विवाह व जीजा-साली विवाह भी अधिमान्य विवाह के प्रचलित व मान्य स्वरूप हैं । औरांव, खासी, खरिया, गोंड़, कादर आदि लोग ममेरे - फुफेरे भाई-बहनों से विवाह को प्राथमिकता देते हैं । कई बार संपत्ति हस्तांतरण की परंम्परा का निर्वहन करने हेतु प्रतीकात्मक रूप से दादी-पोते, व सास-जमाई में भी विवाह होता है।

11.8.2 जनजातीय समाज में जीवन साथी चुनने के तरीके - जनजातीयॉ अपनी विषिष्ट सांस्कृतिक शैली के कारण विविधता में एकता को प्रदर्षित करती है। भारतीय जनजातियॉ जीवन साथी चुनने के लिए निम्नलिखित वैवाहिक विधियों को अपनाती है।

1. **परिवीक्षा विवाह** - कूकी जनजाति में इस प्रकार के विवाह को मान्यता दी जाती है। भावी पति कुछ दिन भावी पत्नी के घर में रहता है और इस प्रकार आपसी सहमति के आधार पर विवाह संबंध को मान्यता मिल जाती है।

2. **बल पूर्वक विवाह -** नागा, खारिया तथा विरहोर जनजातियों में इस प्रकार के विवाह सामान्य हैं । जहॉ मेलों के दोरान भावी पत्नी को जबरजस्ती उठा कर यौन संबंध स्थापित कर वैवाहिक संबंध प्रतिस्थापित किये जाते हैं।

3. **परीक्षा विवाह -** साहस व बहादुरी द्वारा भावी पत्नी को प्राप्त करना परीक्षा विवाह का मान्य स्वरूप है। भील जनजाति में होली के दिन प्रायः इस प्रकार के विवाह देखने को मिलते हैं।

4. **क्रय विवाह -** वधु मूल्य का भुगतान कर कन्या को प्राप्त करना अधिकतर जनजातियों की वैवाहिक शैली रही है। गोंड, सन्थाल, हो इत्यादि जनजातियों में इस प्रकार के वैवाहिक तरीके को अपनाया जाता है।

5. **सहमति व सहपलायन विवाह** - राजी खुषी व भाग कर विवाह करना गोंड, भील तथा गरासिया जनजातियों में आम बात है।

6. **विनिमय विवाह** - अधिक वधु मूल्य के भुगतान से बचने के लिए दो जनजाति परिवार आपस में ही महिलाओं का विनिमय कर लेते है। भाई अपनी बहन को किस दूसरे पुरूष को देता है तथा बदले में उस पुरूष की बहन से शादी कर लेता है।

7. **हठ विवाह -** भावी पति के घर में बल पूर्वक घुस कर उस परिवार का अंग बनने के प्रयास ही हठ विवाह की विषिष्टता है। हो तथा विरहोर जनजातियों में इस प्रकार के वैवाहिक तरीके अपनाये जाते है। 'हो' लोग इसे 'अनादर' पुकारते है।

8. **सेवा विवाह** - वधु मूल्य को न चुका पाने की स्थिति में, पति कुछ समय तक अपने सास-ससुर के घर व खेतों में काम करता है।

11.9 नातेदारी

नातेदारी या बंधुत्व प्रणाली सभी समाजों को एकता के सूत्र में बॉधने का कार्य करती है। अधिकांष जनजातियॉ पितृवंषीय परंम्परा का निर्वाह करती है जबकि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की खासी, गारो व जयन्तियां जनजातियॉ मातृ वषीय हैं। नातेदार दो प्रकार के होते है -एक जो रक्त संबंधी होते है जैसे भाई - बहिन तथा दूसरे वे जो विवाह संबंधी होते हैं जैसे पति - पत्नी के बीच के संबंध ।

नातेदारी व्यवहार प्रतिमान सामाजिक संबंधों को एक विषेष पहचान देते हैं । प्रत्येक जनजाति समाज विषिष्ट नातेदारी व्यवहार प्रतिमानों को प्रचलन में लाता है। परिहार व परिहास संबंध व्यवहार के प्रमुख पक्ष हैं। पुत्रवधु तथा सास - ससुर के बीच परिहार अत्यन्त सामान्य बात है जबकि साली - जीजा व देवर-भाभी के बीच हॅसी -मजाक (परिहास) के संबंध प्रचलित रूप में हैं। मातुलेय (मामा) तथा पितृत्वश्रेय (बुआ) नातेदार प्रत्येक समाज में विषिष्ट स्थान रखते है। खासी, टोडा तथा ओरांव इत्यादि जनजातियों में एक विचित्र किंतु रोचक नातेदारी प्रचलन पाया जाता है जिसे सह प्रसविता कहा जाता है इसमें यह देखने को मिलता है कि बच्चे के जन्म के दौरान होने वाली प्रसव पीड़ा को पति द्वारा भी प्रतिकात्मक के रूप में किया जाता है जिससे बच्चे पर किसी भी बुरी आत्मा का प्रकोप न हो पाये।

11.10 धर्म

धार्मिक विश्वास प्रत्येक समाज को दृढ़ता प्रदान करता है। जनजातिय धर्म - प्राकृतिक, अप्राकृतिक तथा आलौकिक व पारलौकिक विष्वासो का मिश्रण है। अभ्यावाद (आत्माओं में विष्वास), टोटमबाद (पेड़-पौधों तथा जानवरों में विष्वास उत्पत्ति को लेकर), प्रकृतिवाद (प्राकृतिक शक्तियां, नदी जल, पहाड, व पदार्थ में विष्वास) तथा टेबू या निषेध विषिष्ट व्यवहारों को विषिष्ट अवसरों पर महिलाओं के लिए मना करना इत्यादि धर्म को विविधता प्रदान करते हैं। खारिया जनजाति में स्त्री को हल व मकान की छत को छूने की मनाही होती है। नीलगिरी के टोडा लोग भैंसों के बॉधने के स्थान पर स्त्री को नहीं जाने देते हैं। ऐसी मान्यता है कि यदि स्त्री उस स्थान पर गयी तो भैंसों के दूध देने की क्षमता कम हो जायेगी । धर्म के साथ जादू-टोना भी जुड़ा हुआ है। जादू द्वारा मानव अलौकिक शक्ति को प्रसन्न व नियंत्रण करने का भी प्रयास करता है। जादू दो प्रकार की होती है (अ) सफेद जादू - जो अच्छे कार्यो जैसे बीमारी से छुटकारा दिलाने, फसल उन्नत करने आदि के

काम आता है। (ब) काला जादू - जो व्यक्ति को परेशान करने तथा हानि पहुॅचाने के लिए किया जाता है । अधिकांश जनजातीय समाज हिन्दु धार्मिक व्यवस्था से प्रभावित है और शायद इसलिए प्रसिद्ध समाजषास्त्री घुर्ये ने जनजातियो को 'पिछड़े हिन्दुओं' की संज्ञा दी ।

11.11 जनजातियों की राजनीतिक व्यवस्था

राजीनीतिक व्यवस्था किसी भी समाज की सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग होती है। समाज का संचालन एवं नियमन ही राजनीतिक व्यवस्था का प्रमुख कार्य होता है । प्रत्येक जनजाति समूह का अपना एक मुखिया होता है जिसका निर्णय प्रायः सर्वमान्य होता है। अपराध व अपराधी में कोई अन्तर नहीं किया जाता है। आज भी परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था जनजातिय समाज को महत्वपूर्ण बल प्रदान करती है किन्तु यह दृढ़ता प्रत्येक जनजाति में अलग-अलग है। दण्ड तथा न्याय प्रणाली पर सामूहिकता हावी होती है। पंचों द्वारा दिया गया निर्णय सर्वमान्य होता है। अपराध के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान किया जाता है । किसी देवी-देवता के नाम पर शपथ लेने से लेकर कठोरतम विधियों जैसे - गरम तेल में हाथ डालना इत्यादि क्रूर उपायों के प्रयोग अपराध सिद्ध करने या निर्दोष साबित होने के लिए होता है । सिंधी व गोस्वामी के अनुसार आदिम न्याय की निम्नलिखित विशेषताऐं हैं -

1. जनजातियों का कानून नातेदारी, गोत और वंश नियमों पर निर्भर है।

2. नैतिक आदर्श व जनमत आदिम न्याय का आधार है।

3. न्यायिक व राजनीतिक प्रक्रिया में स्थानीय संबंधी व क्षेत्रीय संबंधी दोनों भाग लेते हैं।

4. जनजाति का कानून व्यक्तिगत कानून (टार्ट) व सार्वजातिक कानून में अन्तर नहीं करता है।

5. दण्ड देने के कई तरीके है, जैसे- समूह भोज, क्षतिपूर्ति, पूजा करवाना व आर्थिक दण्ड।

6. जनजातियों की राजनैतिक व्यवस्था आधुनिक संस्थाओं की तरह जटिल नहीं है, उसमें रक्त संबंध जनमत, लोकाचारों ओर अनुवांशिक नेतृत्व महत्वपूर्ण हैं।

11.12 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय जनजातीय समाज के विविध पक्षों को जान पाये हैं। बदलते सामाजिक परिवेष में आज भी जनजातीय भारत अपनी विषिष्ट पहचान बनाये हुए है। मजबूत पारिवारिक एवं वैवाहिक तथा राजनीतिक व्यवस्था जनजाति समाज को अन्य समाजों से भिन्न करती है, साथ ही साथ क्षेत्रीय विविधता भी एक जनजाति को दूसरी जनजाति से अलग करती है। प्रत्येक जनजाति की आर्थिक क्रिया क्षेत्र विषेष की भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर करती है।

11.13 अभ्यास प्रश्न

1. जनजाति से आप क्या समझते है ?
2. जनजातीय समाज की विशेषताएं क्या हैं ?
3. अधिमान्य विवाह पर प्रकाश डालिए।
4. जनजातीय समाज की वैवाहिक व्यवस्था की चर्चा कीजिए।
5. भारत में जनजातीय वर्गीकरण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
6. जनजातियो के धार्मिक व राजनैतिक संगठनों पर प्रकाश डालिए।
7. जनजातीय समाज में नातेदारी के महत्व को समझाइये।

11.14 संदर्भ ग्रन्थ

1. सिंधी, नरेन्द्रकुमार व वसुधाकर गोस्वामी 2008. समाजशास्त्र विवेचन, जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

2. विद्यार्थी, एल.पी. व बी.के. राय 1977. द ट्राइबल कल्चर आफ इंडिया, न्यू देहली, कन्सेप्ट पब्लिकेशन्स.

3. हसनैन, नदीम 2004 समकालीन भारतीय समाज एक समाजशास्त्रीय परिद्रस्य लखनऊ: भारत बुक सेन्टर

इकाई 12 अन्य पिछड़ी जातियां

Other Backward Castes (OBC)

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 अर्थ व परिभाषा

12.3 अन्य पिछड़े वर्ग की समस्याएँ

12.4 पिछड़े वर्ग से सम्बन्धित गठित आयोग

12.5 अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु सरकारी सुझाव एवं उपाय

12.6 अन्य पिछड़ा वर्ग एवं सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय

12.7 सारांश

12.8 पारिभाषिक शब्दावली

12.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

12.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.12 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

अन्य पिछड़े वर्ग या संक्षेप में OBC को एक अलग श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है। इन्हें अन्य पिछड़े वर्ग न कहकर अन्य पिछड़ी जातियाँ भी कहा जाता है। ये वे जातियाँ हैं जिन्हें अनुसूचित

जातियों या जनजातियों की श्रेणियों में नहीं रखा गया है। इस कारण उनको वे सभी संवैधानिक सुरक्षाएँ व सरकारी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं जैसा कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों को प्राप्त हैं। फिर भी, इनके पिछड़ेपन को स्वीकार करते हुए एवं इन्हें एक अलग श्रेणी के अन्तर्गत रखते हुए इनके लिए भी कुछ सुविधाएँ सरकारी तौर पर उपलब्ध कराई गई हैं। मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करनके के प्रश्न पर पूरे देश में जो जबरदस्त विरोध व हिंसा भड़की थी, वह भी इन पिछड़ी जातियों को दी जाने वाली प्रस्तावित आरक्षण सुविधा ही थी। अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण को पूरी तरह से लागू करने के उद्देश्य से इन वर्गों को ये सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई जा रही हैं- (1) अनुसूचित जातियों, जनजातियों के उम्मीदवारों की ही तरह 13 अक्टूबर, 1994 से उनके लिए लिखित परीक्षा और साक्षात्कार के मानदण्डों में ढील दी गई है तथा (2) 25 जनवरी, 1955 से सरकार ने नौकरियों में सीधी भर्ती के वक्त अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों को अन्य पात्रता होने पर ऊपरी आयु-सीमा में तीन वर्ष की छूट देने तथा सिविल सेवा परीक्षा में शामिल होने के सात अवसर प्रदान करने के निर्देश भी दिए हैं।

12.1 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के अन्तर्गत हम यह जान पायेंगे:-

- ओ.बी.सी. व अन्य पिछड़े वर्ग की जाति को किस श्रेणी में रखा गया है,
- अन्य पिछड़ी जाति के लिए सरकार ने कौन-कौन से कदम उठाये हैं,
- अन्य पिछड़ी जाति का आज वर्तमान समय में समाज में क्या स्थान रहा है,
- अन्य पिछड़ी जाति को आज वर्तमान समय में किस प्रकार की समस्याएँ झेलनी पड़ रही हैं,
- अन्य पिछड़ी जाति के वर्गों के लिए किस प्रकार के आयोग गठित किये गये हैं,
- मण्डल आयोग द्वारा पिछड़े वर्गों के विकास के लिए सुझाव एवं उपाय।

12.2 अवधारणा एवं अर्थ

समय-समय पर पिछड़े वर्ग की आवधारणा को विभिन्न कसौटियों के आधार पर स्पष्ट किया गया। सन् 1921 में मैसूर राज्य में उन सभी जातियों को पिछड़े वर्ग के रूप में स्पष्ट किया गया जो जन्म से ब्राह्मण नहीं थीं तथा जिनका सार्वजनिक सेवाओं में समुचित प्रतिनिधित्व नहीं था। सन् 1928 में

हरटॉग कमेटी ने पिछड़े वर्ग में सभी दलित वर्गों, आदिवासियों, पर्वतीय जनजातियों तथा अपराधी जनजातियों को सम्मिलित किया। बाद में साइमन कमीशन ने भी पिछड़े वर्ग को 'मध्यवर्ती जातियों' intermediatary के रूप में स्पष्ट किया। सन् 1929 में जब 'यूनाइटे प्रॉविन्सेज बैकवर्ड क्लासेज लीग' की स्थापना हुई, तब उसने यह विचार रखा कि पिछड़े वर्ग का तात्पर्य उन जातियों से है जो दलितों की तरह उच्च जातियों के स्पर्श और सम्पर्क से वंचित न होने के बाद भी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप में बहुत पिछड़ी हुई हैं। इस प्रकार जाति-व्यवस्था में पिछड़े हिन्दू ही पिछड़े वर्ग का आधार हैं। स्पष्ट है कि भारत में एक लम्बे समय तक पिछड़े वर्ग की आवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कोई ऐसा आधार तय नहीं हो सका जिसे अखिल भारतीय स्तर पर स्वीकार किया जा सके।

एक लम्बे समय तक भारत में अन्य पिछड़े वर्गों को एक पृथक् श्रेणी तो माना जाता रहा लेकिन धीरे-धीरे यह भावना भी प्रबल बनने लगी कि पिछड़े वर्ग का तात्पर्य आर्थिक रूप से पिछड़े हुए लोगों से नहीं बल्कि उन जातियों से है जो जाति-व्यवस्था में निम्न स्थान पर होते हुए भी अनुसूचित जातियाँ नहीं हैं तथा जो सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी हुई हैं। इस दृष्टिकोण से अन्य पिछड़े वर्गों को एक 'अवशिष्ट श्रेणी' residual category अथवा बची हुई श्रेणी कहा जा सकता है। अन्य पिछड़े वर्ग का तात्पर्य हिन्दू और मुस्लिम समुदाय की उन निम्न जातियों से है जो अनुसूचित जातियाँ न होने के बाद भी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक आधार पर पिछड़ी हुई हैं तथा विभिन्न राजकीय सेवाओं में जिनका प्रतिनिधित्व बहुत कम है।

12.3 अन्य पिछडे वर्ग की समस्याएँ

अन्य पिछले वर्ग भी अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की तरह सदियों से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से काफी पिछड़ा रहा है। इस कारण यह वर्ग अनेक समस्याओं से ग्रस्त हैं। यहाँ हम अन्य पिछड़े वर्ग की प्रमुख समस्याओं का वर्णन करेंगे-

(1) पेशों को चुनने की समस्या- चूंकि पिछड़े वर्गों के सदस्य सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक तौर पर अन्य वर्गों से पिछड़े हुए होते हैं इस कारण उनके सामने पेशों को चुनने की समस्या स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। अच्छे किस्म के पेशों को चुनने के लिए आर्थिक और विशेषकर शैक्षिक तौर पर समृद्ध होना आवश्यक है, पर पिछड़े वर्ग के सदस्य इस मामले में पिछड़े हुए होते हैं। इस कारण

प्रतियोगी परीक्षाओं में इन वर्गों के बच्चे दूसरे वर्गों के साथ समान स्तर पर प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाते हैं और उन्हें अच्छी नौकरियाँ नहीं मिल पाती हैं।

(2) भूमिहीन कृषक की समस्या- भारत के अधिकतर भाग में ऊँची जातियों का एकाधिकार माना जाता है। इस कारण पिछड़े वर्गों के सदस्यों का भूमि पर अधिकार बहुत कम होता है। गाँवों में वे अधिकतर भूमिहीन कृषक के रूप में ही बने रहते हैं और उस रूप में उन्हें उच्च जातियों के खेतों में काम करना पड़ता है। इस रूप में उनका अनेक प्रकार से शोषण किया जाता है। वे सुबह से शाम तक खेतों में कड़ी मेहनत करते रहते हैं, फिर भी उन्हें आर्थिक रूप से समृद्ध होने का अवसर कभी मिलता ही नहीं है।

(3) **वेतन की समस्या-** पिछड़े वर्गों की एक और समस्या वेतन की समस्या है और वह इस रूप में कि उन्हें अपने काम का उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता। गांवों में वे खेतों में काम करते हैं जहाँ कि नगद वेतन बहुत कम मिलता है। ज्यादातर मामलों में खेत का मालिक उन्हें उनके काम के बदले में अनाज दे देता है जो कि पर्याप्त नहीं होता। गांव व शहरों में धोबी, कुम्हार, नाई आदि अपना छोटा-छोटा धन्धा करते हैं पर इससे कमाई बहुत कम होती है और उनके परिवार का भरण-पोषण मुश्किल से ही हो पाता है।

(4) **श्रम विभाजन में निम्न स्थान की समस्या**- अपने पिछड़ेपन के कारण मिल, फैक्ट्री आदि में पिछड़े वर्गों के सदस्यों को अच्छे पदों पर काम करने का अवसर ही नहीं मिल पाता है। उन्हें केवल वही काम मिलते हैं जोकि निम्न स्तर के होते हैं। अर्थात् श्रम-विभाजन में उनके हिस्से में अच्छे काम नहीं आते हैं। वे जिन्दगी भर अकुशल श्रमिक ही बने रहते हैं। इससे उन्हें वेतन कम मिलता है और उनकी आर्थिक स्थिति गिर जाती है।

(5) **ऋणग्रस्तता की समस्या-** चूंकि अधिकतर पिछड़े वर्गों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती है, इस कारण उनके जीवन में ऋणग्रस्तता की समस्या सदा ही बनी रहती है। उनकी आमदनी इतनी भी नहीं होती है कि वे उचित रूप में भोजन, कपड़ा व मकान की मौलिक आवश्यकताओं को भी उचित ढंग से पूरा कर सकें। इसका परिणाम यह होता है कि बीमारी, जन्म, मृत्यु, विवाह, दुर्घटना आदि के समय उन्हें अनिवार्य रूप में उधार मांगकर अपनी आवश्यकता को पूरा करना होता है। यह

ऋण वे अधिकतर साहूकार, जमींदार या महाजनों से लेते हैं जो कि एक ओर तो ब्याज की ऊँची दर पर ऋण देते हैं।

(6) शिक्षा सम्बन्धी समस्या- अपने आर्थिक पिछड़ेपन के कारण पिछड़े वर्गों के लोग अपने बच्चों के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर पाते हैं। वैसे भी भारत में शिक्षा, विशेषकर उच्च व तकनीकी शिक्षा बहुत महँगी है। उस शिक्षा तक पहुँच पिछड़े वर्गों के बच्चों के लिए दूर का सपना-सा लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि आर्थिक व सामाजिक दोनों ही स्तर पर ये बच्चे पिछड़ते चले जाते हैं और देश की प्रगति के सच्चे भागीदार नहीं बन पाते।

(7) उच्च वर्गों द्वारा भेदभाव व अत्याचार की समस्या- पिछड़े वर्गों के लोगों के साथ भेदभाव व उत्पीड़न अधिकांशतः गांवों में और उच्च जातियों के द्वारा किया जाता है। एक-दो उच्च जातियाँ एक गांव-विशेष में एक अत्यन्त संगठित शक्ति के रूप में उभरती है। उनके हाथों में आर्थिक या राजैनिक अथवा दोनों प्रकार की शक्तियाँ होती हैं और उसी शक्ति के बदल पर वे गाँव के निर्बल वर्गों पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते हैं।

बोध प्रश्न 1

1. अन्य पिछड़े वर्गों के लिए कौन-सी श्रेणी उनकी सही प्रकृति को स्पष्ट करती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. पिछड़े वर्गों की दशा में सुधार करने के लिए केरल में एक विशेष आन्दोलन संगठित किया गया, इसका नाम क्या था?

.....

.....

.....

.....

3. द्वितीय पिछड़ा वर्ग आयोग के अध्यक्ष का नाम क्या है?

.....

.....

.....

.....

4. भारत में अन्य पिछड़े वर्गों को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 27 प्रतिशत आरक्षण देने का फैसला कब किया गया।

.....

.....

.....

.....

5. मण्डल आयोग ने पिछड़े वर्गों के चयन के लिए किस आधार को महत्वपूर्ण माना है?

.....

.....

.....

.....

12.4 पिछड़े वर्ग से सम्बन्धित गठित आयोग

पिछड़ी जातियों को एक अलग श्रेणी के रूप में मान्यता देकर उन्हें आरक्षण की सुविधाएँ देने के लिए पहला आन्दोलन पेरियार ई.वी.रामास्वामी के नेतृत्व में मद्रास में आरम्भ हुआ। उन्होंने द्रविड़ कड़घम पार्टी की स्थापना करके एक ओर संगठित रूप से ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन आरम्भ किया तो दूसरी ओर, राज्य में पिछड़े वर्गों की पहचान करके उन्हें आरक्षण देने पर बल दिया। उस समय मद्रास में ब्राह्मणों की जनसंख्या केवल तीन प्रतिशत थी लेकिन मद्रास की सम्पूर्ण राजनीति, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। इसके बाद भी तेजी से फैलते हुए आन्दोलन के कारण जब राज्य में पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने का मामला सर्वोच्च न्यायालय को भेजा गया, तब सर्वोच्च न्यायालय ने उसे इसलिए अस्वीकार कर दिया कि संविधान के अनुच्छेद 340(1) में पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इस निर्णय के विरूद्ध मद्रास में सन् 1950 में इतना व्यापक आन्दोलन हुआ कि सरकार को दो महीने के अन्दर ही संविधान में पहला संशोधन करना पड़ा। संविधान के अनुच्छेद 16 में एक नयी धारा 16(4) को जोड़कर यह कहा गया कि ''प्रत्येक राज्य को यह अधिकार होगा कि उसकी राय में राज्य के जिस पिछड़े वर्ग को वहाँ की सेवाओं में समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो, उसके पक्ष में नियुक्ति सम्बन्धी आरक्षण का प्रावधान किया जा सकता है।'' यहीं से यह आवश्यक समझा जाने लगा कि एक आयोग को नियुक्त करके ऐसे मानदण्ड अथवा कसौटियाँ निर्धारित की जायें जिनके आधार पर अन्य पिछड़े वर्गों की पहचान की जा सके।

काका कालेलकर आयोग- संविधान के अनुच्छेद 340(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेश दिनांक 29 जनवरी, सन् 1953 के अनुसार काका कालेलकर की अध्यक्षता में 'पहला पिछड़ा वर्ग आयोग' नियुक्त किया गया। इसका काम (1) सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों की कसौटियाँ निर्धारित करना तथा ऐसे वर्गों की सूची तैयार करना; (2) पिछड़े वर्गों की विभिन्न दशाओं को ज्ञात करना; (3) ऐसी संस्तुतियाँ देना जिससे सरकार द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार किया

जा सके; (4) ऐसे विषय प्रस्तावित करना जिनके लिए राष्ट्रपति द्वारा किसी दूसरे आयोग को निर्देश दिये जा सकें तथा (5) पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित प्रतिवेदन प्रस्तुत करना था।

आयोग ने सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के निर्धारण के लिए चार कसौटियाँ अपनायीं:

1. हिन्दू समाज के परम्परागत जाति संस्मरण में निम्न सामाजिक प्रस्थिति,

2. किसी जाति तथा समुदाय के एक बड़े भाग में शैक्षणिक विकास की कमी,

3. राजकीय सेवाओं में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व तथा

4. व्यापार, वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

आयोग ने सम्पूर्ण देश में 2,399 पिछड़ी जातियों की एक सूची सहित 30 मार्च, 1955 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इनमें से आयोग ने 837 जातियों को सबसे अधिक पिछड़ा हुआ बताया। आयोग ने पिछड़े वर्गों के लिए जो संस्तुतियाँ दीं, वे इस प्रकार हैं:

1. सन् 1961 की जनगणना में जनसंख्या की गणना जातिगत आधार पर भी की जाय।

2. किसी वर्ग के सामाजिक पिछड़ेपन का मूल्यांकन हिन्दू समाज के परम्परागत जाति संस्तरण में उसकी निम्न स्थिति के आधार पर किया जाय।

3. सभी स्त्रियों को एक वर्ग मानते हुए उन्हें पिछड़ा वर्ग माना जाय।

4. सभी प्राविधिक और व्यावसायिक संस्थाओं में पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों के लिए 70 प्रतिशत स्थान आरक्षित किये जायें।

5. सरकारी सेवाओं तथा स्थानीय निकायों में की जाने वाली नियुक्तियों में प्रथम श्रेणी की सेवाओं में 25 प्रतिशत स्थान, द्वितीय श्रेणी की सेवाओं में 33.33 प्रतिशत स्थान तथा तृतीय और चतुर्थ श्रेणी की सेवाओं में 40 प्रतिशत स्थान पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित किये जायें।

12.5 अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु सरकारी सुझाव एवं उपाय

पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने तथा संविधान के अनुच्छेद 16 के अनुसार अन्य पिछड़े वगों की सूचियाँ बनाने से सम्बन्धित सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के आधार पर सरकार ने अनेक ऐसे प्रयत्न किये जिनकी सहायता से इन वर्गों का समुचित विकास किया जा सके।

1. **सेवाओं में आरक्षण तथा सुविधाएँ:-** सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार सरकार ने सभी सरकारी सेवाओं में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने के साथ ही भारत की सभी राज्य सरकारों को यह निर्देश दिया कि प्रत्येक राज्य सरकार अपने-अपने क्षेत्र में उन जाति-समूहों की सूचियाँ तैयार करे जो मण्डल आयोग द्वारा सुझाए गये मानदण्डों के अनुसार अन्य पिछड़े वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। सन् 2001-02 में केन्द्र सरकार द्वारा दिये गये इस आदेश का पालन करते हुए, विभिन्न राज्यों में इस समय तक 2,268 पिछड़ी जातियों तथा समुदायों को 'अन्य पिछड़े वर्गों की सूची' में सम्मिलित किया जा चुका है।

2. **'राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग विभाग तथा विकास निगम' की स्थापना-** सरकार द्वारा इस निगम क स्थापना सन् 1992 में ही कर दी गयी थी। इसका उद्देश्य गरीबी की सीमा रेखा से नीचे के अन्य पिछड़े वर्गों को रियायती दर पर ऋण की सुविधाएँ उपलब्ध कराना है। ग्रामीणों क्षेत्रों में अन्य पिछड़े वर्गों के निर्धन लोगों को 40 हजार रुपये तथा नगरीय क्षेत्रों में 55 हजार रुपये तक का ऋण देने की व्यवस्था की गयी। सन् 2001-02 में इस निगम के द्वारा 3,81,491 लाभार्थियों के लिए कुल 641.82 करोड़ रुपये के ऋण वितरित किये गये।

3. **परीक्षा-पूर्व कोचिंग:-** अन्य पिछड़े वर्गों के प्रत्याशियों को प्रवेश-परीक्षा तथा प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करने हेतु उन युवकों को निःशुल्क कोचिंग देने की व्यवस्था की गयी है जिनके माता-पिता की वार्षिक आय एक लाख रुपये से कम है। वर्तमान में इस तरह की कोचिंग देने वाले 32 संगठनों को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही है।

4. **लड़कों तथा लड़कियों के लिए छात्रावास:-** जिन राज्यों में अन्य पिछड़े वर्गों की जनसंख्या काफी अधिक होने के बाद भी वहाँ उनके लिए छात्रावासों की कमी है, वहाँ सरकार द्वारा लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग छात्रावास बनाने के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रावधान किया गया है। यह व्यवस्था की गयी है कि माध्यमिक, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय के स्तर के

विद्यार्थियों के लिए अलग-अलग छात्रावास बनाये जायें। ऐसे छात्रावासों में से कम से कम एक-तिहाई छात्रावास लड़कियों के लिए होना आवश्यक है। छात्रावासों के निर्माण के लिए केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकारों को कुल व्यय का आधा हिस्सा अनुदान के रूप में दिया जाता है।

5. **मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति:-** अन्य पिछड़े वर्गों में जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय 44,500 रुपये से अधिक नहीं है, उनके बच्चों को यह छात्रवृत्ति कक्षा एक से कक्षा दस तक के सभी गैर-छात्रावासी विद्यार्थियों तथा कक्षा दो से कक्षा दस तक के छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थियों को देने का प्रावधान है। सन् 2001-02 के अन्तर्गत इस योजना से 9.5 लाख से भी अधिक बच्चों को लाभ प्राप्त हुआ।

6. मैट्रिक से ऊपर के बच्चों को छात्रवृत्तियाँ:- अन्य पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित जो बच्चे मैट्रिक अथवा माध्यमिक स्तर के बाद शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं, उनके लिए भी सरकार द्वारा छात्रवृत्ति देने का प्रावधान किया गया है। ऐसी छात्रवृत्ति केवल उन्हीं बच्चों को प्राप्त होती है जिनके माता-पिता की वार्षिक आय 44,500 रुपये से अधिक नहीं होती। इन छात्रवृत्तियों पर होने वाला पूरा व्यय केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। सन् 2002 तक लगभग 1.50 लाख विद्यार्थियों को इस सुविधा के अन्तर्गत लाभ प्राप्त हुआ।

7. **स्वयंसेवी संगठनों की सहायता:**- सरकार द्वारा ऐसे स्वयंसेवी संगठनों को आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है जो अन्य पिछड़े वर्गों को लाभप्रद व्यवसाय देने के उद्देश्य से उनके शैक्षणिक और सामाजिक-आर्थिक विकास में रुचि लेते हैं। ऐसी आर्थिक सहायता का 90 प्रतिशत व्यय केन्द्र सरकार द्वारा तथा शेष 10 प्रतिशत व्यय राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। स्वयंसेवी संगठनों द्वारा सन् 2002 तक इस तरह की 225 परियोजनाएँ आरम्भ की गयीं जिनके लिए सरकार द्वारा 3.80 करोड़ रूपया अनुदान के रूप में दिया गया।

बोध प्रश्न 2

1. पिछड़ी जाति का अर्थ एवं परिभाषा 5 पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. मण्डल आयोग द्वारा पिछड़े वर्ग के विकास के लिए किये गये तीन उपायों को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3. अन्य पिछड़े वर्ग की तीन समस्याओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

12.6 अन्य पिछड़ा वर्ग एवं सर्वोच्च न्यायलय के निर्णय

मण्डल आयोग की संस्तुतियों तथा केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों को एक-दूसरे से भिन्न नीतियों के आधार पर आरक्षण देने से सम्बन्धित सभी पक्षों पर सर्वोच्च न्यायालय ने गहराई से विचार किया। इसके बाद 16 नवम्बर, 1992 को उच्चतम न्यायालय ने अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण के बारे में अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण देना स्वीकार किया। पिछड़ेपन के मानदण्ड के रूप में सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन को ही आधार माना गया, आर्थिक पिछड़ेपन को नहीं। फैसले के द्वारा मुस्लिम

और ईसाई समुदाय की पिछड़ी जातियां को भी आरक्षण का लाभ देने को उचित ठहराया गया। पदोन्नति में आरक्षण को सही नहीं माना गया। मण्डल आयोग ने जिन 3,473 जातियों को अन्य पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित जातियों में भी उन लोगों को आरक्षण का लाभ नहीं मिलना चाहिए जो सम्पन्न वर्ग में आते हों।

सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के बाद केन्द्र सरकार ने पिछड़े वर्गों में किन लोगों को सम्पन्न माना जाये, इसका निर्धारण करने के लिए मार्च , 1993 को प्रसाद समिति की नियुक्ति की। इस समिति की संस्तुतियों पर विचार करने के बाद केन्द्र सरकार ने 8 सितम्बर, 1993 से पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षरण देने की नीति को लागू कर दिया। विभिन्न राज्यों में भी पिछड़े वर्गों की सूचियों में संशोधन करके उन्हें आरक्षण देना आरम्भ कर दिया गया, यद्यपि अलग-अलग राज्यों में पिछड़े वर्गों को मिलने वाले आरक्षण का प्रतिशत एक-दूसरे से भिन्न है।

12.7 सारांश

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्य पिछड़े वर्ग का समाज में जो स्थान होना चाहिए वह नहीं है, परन्तु समाज की इन भेदभावपूर्ण नीति को समाप्त करने के लिए सरकार एवं कुछ बुद्धिजीवियों ने जो उपाय किये हैं वह सर्वोपरि हैं। अन्य पिछड़ा वर्ग अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों से सन्तुष्ट स्थान पर है। इनके साथ वैसी शोषनात्मक प्रवृत्ति नहीं अपनायी जाती जितनी अनुसूचित जाति व जनजाति के साथ अपनायी जाती है। ईकाई के विभिन्न बिन्दुओं पर जब हम प्रकाश डालते हैं तो साफ स्पष्ट होता है कि आज पिछड़े वर्ग के समक्ष जो भी समस्याऐं आ रही हैं, वह कष्टप्रद व घृणात्मक हैं, परन्तु उसका निराकरण एवं उपाय भी सरकारी व संवैधानिक तौर पर किया जाता है, जिससे इनको काफी हद तक लाभ मिल रहा है। मण्डल आयोग द्वारा इन्हें विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं जो इनको सामाजिक व वैधानिक तौर पर संतुष्टि प्रदान कर रही है और उनका विकास भी हो रहा है। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय द्वारा उनको विभिन्न क्षेत्रों, पदों, नौकरियों, शिक्षा आदि में आरक्षण का लाभ भी प्रदान किया जा रहा है जो सर्वोपरि है।

12.8 परिभाषिक शब्दावली

समस्याएँ:- जैसे अन्य पिछड़े वर्गों को पेशे चुनने की स्वतंत्रता नहीं है, वेतन की समस्या है, ऋण से ग्रसित हैं, शिक्षा से सम्बन्धित समस्याएँ हैं, उच्च वर्गों द्वारा आज भी भेदभाव किया जा रहा है जो न्यायोचित नहीं है।

काका कालेकर आयोग:- आयोग द्वारा सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए एक सूची तैयार की गई है जो इनके कल्याण से सम्बन्धित है।

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. अवशिष्ट श्रेणी।
2. श्री नारायण धर्म परिपालन आन्दोलन।
3. बी.पी. मण्डल।
4. सन् 1992 में।
5. सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक आधार।

बोध प्रश्न 2

1. इस प्रश्न के उत्तर के लिए ईकाई के 12.2 बिन्दु को पढ़े, समझे और लिखें।
2. इस प्रश्न के उत्तर के लिए ईकाई के 12.4 के बिन्दु को पढ़कर लिखिए।
3. इस प्रश्न के उत्तर के लिए ईकाई के बिन्दु 12.3 को समझकर, पढ़कर किन्हीं तीन समस्याआंओ को लिखिए।

12.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

भारतीय समाज मुद्दे एवं समस्याएँ - महाजन व महाजन (साहित्य भवन)।

भारतीय सामाजिक समस्याएँ - जी.आर. मदान (विवेक प्रकशन)।

12.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Indian Society & Culture - R.N. Mukherjee (Vivek Prakashan).

Social Problems - Dr. R.N. Srivastava (Vivek Prakashan).

Social Caste System - R.N. Mukherjee (Vivek Prakashan).

12.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. पिछड़ी जाति का अर्थ स्पष्ट करते हुए उनकी समस्याओं का वर्णन कीजिए।

2. पिछड़ी जाति के कल्याण हेतु सरकारी सुझावों का वर्णन कीजिए।

इकाई – 13- अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गो के लिए वैधानिक एवं संवैधानिक सुरक्षा उपाय

Legal & Constitutional Safeguards for SC, ST & OBC

इकाई की रूपरेखा

13.0 परिचय

13.1 इकाई के उद्देश्य

13.2 भारतीय जाति व्यवस्था

13.3 समाज के कमजोर वर्ग

13.4 अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछडे वर्गो की संवैधानिक स्थिति

13.5 कमजोर वर्गो के विकास के लिए संवेधानिक व वैधानिक उपाय

13.6 अन्य पिछड़े वर्गो के उत्थान के लिए गठित आयोग

13.7 संवैधानिक एवं वैधानिक उपायो की स्थिति की समालोचना

13.8 सारांश

13.9 अभ्यास प्रश्न

13.0 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज एक बहुसांस्कृतिक राष्ट्र है। परम्परागत रूप से जाति व्यवस्था इस समाज को विष्व पटल पर एक अलग पहचान देती है और साथ ही साथ यह व्यवस्था कई प्रकार की संकीर्णताओं से भी अछूती नहीं रही है। जातिगत संस्तरण अर्थात सामाजिक स्तरीकण प्राचीन हिन्दू सामाजिक

व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग रही है। यह स्तरीकरण समाज को उच्चता एवं निम्नता के आधार पर विभिन्न सोपानों में विभाजित करता है। यह सोपान प्रारम्भ में सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से नियमन व संचालन हेतु श्रम विभाजन का रूप ले लिया।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे -

भारतीय जाति व्यवस्था

भारत में कमजोर वर्गो का आषय

कमजोर वर्गो की संवैधानिक स्थिति

अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के उत्थान हेतु वैधानिक व संवैधानिक उपाय

अन्य पिछड़े वर्गो के उत्थान के लिए किये गये प्रयास

13.2 भारतीय जाति व्यवस्था

परम्परागत भारतीय समाज का विभाजन चार प्रमुख सामाजिक समूहों के रूप में था। ये समूह प्राचीन हिन्दू समाज व्यवस्था को ब्रहमन, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभाजित किया। सामाजिक व्यवस्था के उच्चतम स्तर पर ब्रहमन जाति, द्वितीयक स्तर पर क्षत्रिय जाति, त्रतीयक स्तर पर वैश्य जाति एवं सबसे निचले स्तर पर शूद्र जाति के लोगों को स्थान दिया गया। वर्णकालीन यह व्यवस्था मानव के कार्यषैली के आधार पर था जो उत्तर वैदिककाल तक आते आते संकीर्ण जाति व्यवस्था का रूप ले लिया। योग्यता के स्थान पर जाति विशेष में जन्म लेने को ही जाति विशेष के व्यवसाय से जोड़ दिया गया। व्यवस्था के अनन्तिम स्तर पर ऐसी मानव समूहों केा रखा गया जिन्हें समाज की मुख्य धारा का भाग न मानकर, प्राचीन वर्णव्यवस्था का बाह्य अंग माना गया और इन निर्बल वर्ग के लिए पंचम वर्ण, अत्यंन्त, पिछड़े आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। जातीय व्यवस्था की विशमताओं ने समाज को विभिन्न श्रेणियों में बॉट दिया। मजूमदार एवं मदान ने लिखा है कि ''जाति व्यवस्था को हानिकरण सहवर्ती प्रथाओं अस्पृष्यता, एक जाति द्वारा दूसरी जाति का शोषण और ऐसी ही अन्य समस्याओं को समाप्त कर देना चाहिए, न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को, टूटी हुई

विषैली अंगुली को काटना चाहिए न कि पूरे हाथ को। '' स्पष्ट है जाति व्यवस्था की निरन्तरता एवं स्थायित्व आज भी हजारों वर्षों बाद भारतीय सामाजिक व्यवस्था को एक अलग पहचान दिये हुए है।

13.3 समाज के कमजोर वर्ग

सदियों से चले आ रहे जातिगत संस्तरण ने भारतीय समाज में शूद्र वर्ग की जातियों को समाज के विभिन्न अधिकारों से वंचित किया। उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा का कभी भी महत्वपूर्ण अंग नहीं माना गया। उनका समाज शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व बन रह गया और समाज के अधिकतर संसाधनों पर प्रमुख जातियों का आधिपत्य रहा। इस असमानतापूर्ण व्यवहार के फलस्वरूप आज की पिछड़ी जातियां सामाजिक, शैक्षिक व आर्थिक रूप से अत्यधिक पिछड़ गयी। आदिवासी समुदाय को भी इस सामाजिक स्तरंण का अंग न मानकर सदियों से उन्हें भौगोलिक दृष्टि से समाज की मुख्यधारा से अलग रखने के प्रयास हुए। किन्तु ब्रिटिश उपनिवे में भारतीयों में जाति व्यवस्था के नाम पर व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के अत्यधिक प्रयास किये गये। विकास का धारा किसी जाति विषेष के सन्दर्भ में न होकर संपूर्ण सामाजिक विकास को सामाजिक न्याय से जोड़ा गया।

समाज में कमजोर वर्ग को परिभाषित करने के प्रयास किये गये अर्थात् परम्परागत जाति व्यवस्था में वे कौन - कौन से वंचित समूह जिन्हें समाज की मुख्यधारा से अलग रखने का प्रयास किया गया। भारत सरकार के अधिनियम 1935 में सर्वप्रथम समाज के पिछड़े वर्गो के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को परिभाषित करने का प्रयास हुए। मुख्यतः वे सभी वर्ग/जातियां जो सदियों से वंचित व शोषित होते रहीं उन्हें पिछड़े वर्ग की संज्ञा दी गयी और इसका आधार आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक पिछड़ेपन को माना गया। स्वतंत्रता पष्चात् प्रजातांत्रिक मूल्यों को व्यापकता प्रदान करने हेतु संविधान का निमार्ण किया गया और इस प्रकार सामाजिक न्याय की विचार शैली को समाज के सभी वर्गो तक बिना किसी भी प्रकार के भेदभाव के, प्रतिस्थापित कर दी गयी।

13.4 अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछडे वर्गो की संवैधानिक स्थिति

भारतीय समाज के पिछड़े वर्गो के अन्तर्गत तीन प्रकार की श्रेणियों का विभाजन किया गया है ये हैं - अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्ग । विद्वानों ने इन्हें हरिजन, गिरिजन एवं इतरेजन आदि संम्बोधों से भी जानने का प्रयास किया । इन सभी श्रेणियों का विभेदीकरण सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक असमानता की व्यापकता के आधार पर किया गया । एक औपचारिक स्वरूप देने के लिए इन जातियों/समूहों/वगों को संविधान में जगह दी गयी । फलस्वरूप इनके उत्थान के लिए वैधानिक एवं संवैधानिक अधिकारों का ढॉचा तैयार किया गया जिससे किसी भी प्रकार का किसी भी स्तर पर अधिकारों का हनन न हो सके । विकास की प्रक्रिया में सभी को उचित अवसर सामाजिक न्याय के आधार पर मिले । साथ ही साथ इन सभी वर्गो के लिए शैक्षिक एवं रोजगार परक असमानता को दूर करने हेतु आरक्षण की भी व्यवस्था संविधान सम्मत की गयी जिससे इन लोगों का प्रतिनिधित्व राष्ट्र की मुख्य विकास धारा में हो पाये । निर्णय लेने की क्षमता का समाज में उपयोग हो सके। इसके लिए समाज के सभी कमजोर वर्गो के लिए राजनीतिक स्तर पर राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी को आरक्षण के माध्यम से दी गयी है।

सं्विधान के अनुच्छेद 341 में कुछ पिछड़ी हुई जातियों और समुदायों को, जो अस्पृष्यता एवं सामाजिक निर्याग्ताओं का षिकार थी, अनुसूचित जातियां घोषित किया गया है । अनुसूचित जातियों की सूची राज्य वार है और राज्य सरकार का यह दायित्व माना जाता है कि वह इनके अधिकारों के संरक्षण का हर संभव प्रयास करेगी । अनुसूचित जातियों की सूची में किसी भी प्रकार का भी संषोधन संसदीय अधिनियम द्वारा ही किया जा सकता है। स्पष्ट है कि 'अननुसूचित जाति' नाम की उत्पत्ति प्रशासनिक है, न कि सामाजिक या समाज शास्त्रीय । अनुसूचित जातियों की आबादी भारत की कुल आबादी की 15.8 प्रतिषत है । यह आबादी लगभग एक हजार जातियों में विभाजित है जिनमें से बहुतों के नाम पर्यायवाची है। इनमें से कुछ अनुसूचित जातियों की जनसंख्या करोड़ों में है । अधिक जनसंख्या वाली अनुसूचित जातियों में चमार, भंगी, आदि द्रविड, पासी,

माली, कोली/कोटी, महार नाम शूद्र आदि आते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक राज्य की अनुसूचित जातियों की अपनी अलग सूची है।

अनुसूचित जनजातियां वे है जिन्हें राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 342 की लोक अधिसूचना द्वारा जनजातियों या जनजाति - समूदायों के भागों में विनिर्दिष्ट किया है। देष के विभिन्न राज्यों में पॉच सौ से अधिक जनजातियों के समुदाय पाये जाते हैं किन्तु यहॉ पर भी विरोधाभास देखने को मिलता है, अनुसूचित जनजातियों की सूची राज्य के संन्दर्भ में बदल जाती है ।एक मानव समूह या समुदाय किसी एक राज्य में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में आता है, वहीं दूसरे राज्य में उसकी स्थिति अनुसूचित जाति की हो सकती है या कोई अन्य जातीय श्रेणी। शायद इस प्रकार का विभेदीकरण ही आरक्षण व्यवस्था का सुचारू रूप से लागू न होने के लए जिम्मेदार माना जा सकता है।

भारतीय संविधान किसी भी जगह अन्य पिछड़े वर्ग को परिभाषित नहीं किया गया है। यह केन्द्र व राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया है कि ऐसे वर्गो को चिन्हित करें जो इस श्रेणी से संबंद्ध हो। यह माना जाता है कि वे वर्ग जिनका राज्य की सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व नहीं है उन्हें पिछड़े वर्ग कह सकते हैं। अनुच्छेद 340 राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह आर्थिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो की स्थिति का पता लगाने हेतु एक आयोग का गठन करें। आयोग की अनुसंषा के आधार पर राष्ट्रपति अन्य पिछड़े वर्गो को चिन्हित् कर सकता है।।

13.5 अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़े वर्गो के उत्थान के लिए वैधानिक एवं संवैधानिक उपाय

स्वतंत्रता पश्चात संविधान निर्माण के साथ - साथ विभिन्न प्रकार के वैधानिक उपायों को लागू कर अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के खिलाफ होने वाले अत्याचारों पर अंकुष लगाने के प्रयास शुरू किये गये। यह एक कटुसत्य है कि जातीय विषमता ने समाज के इन कमजोर वर्गो को उसी समाज का अंग होने के बावजूद विभिन्न प्रकार के अधिकारों से दूर रखा। आज इन वर्गो पर जाति विषेष के नाम पर होने वाले अपराध सबसे अधिक हैं। देष के किसी न किसी भाग पर इन जातियों पर अत्याचार लगातार होते रहते हैं।

13.5.1 वैधानिक उपाय एवं सामाजिक निर्योग्यताएं -

समाज के उपरोक्त कमजोर वर्गो को सदियों से सामाजिक आर्थिक शोषण का षिकार रही हैं।हसनैन के अनुसार इन वर्गो की आबादी का अधिकांश भाग कुछ प्रमुख निर्योग्यताओं से प्रभावित हैं जो निम्नवत है-

1. अपना व्यवसाय चुनने की आजादी का अभाव

2. भूमिहीनता एक महत्वपूर्ण कारक है जो सीधे आर्थिक स्तर से जुड़ा हुआ है।

3. शिक्षा का अभाव

4. पृथक या विलगित आवास अर्थात् एक प्रकार की सामाजिक दूरी

5. निर्णय लेने की प्रक्रिया में असहभागिता अर्थात् राजनीतिक अधिकारों का इस्तेमाल करने की आजादी का अभाव । अस्पृष्यता पराम्परागत जाति व्यवस्था की सबसे क्रूर सामाजिक बुराई थी । संविधान निर्माण के साथ - साथ अनुच्छेद 17 के अंर्तगत इसे समाप्त किया गया तथा दूसरी तरफ इसके निषेध का कड़ाई से पालन करने हेतु अस्पृष्यता उन्मूलन अधिनियम 1955 लागू किया गया । इस अधिनियम को और व्यापक रूप से संशोधित करके नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1976 लागू किया गया । 1951 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की आठंवी धारा में इस बात का अनुबंध है कि जो व्यक्ति इस अधिनियम के तहत् दोषी सिद्ध होता है वह दोष सिद्धि की तिथि से आगामी छः वर्षा तक के लिए संसदीय या विधानसभा चुनाव के लिए अयोग्य कर दिया जावेगा । नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 की धारा 15 ए (2) के उपबन्ध के अनुसार राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र प्रषासनों को केन्द्रीय सहायता दी जाती है। साथ ही साथ अनुसूचित जाति के आहत व्यक्ति के लिए कानूनी सहायता की भी व्यवस्था की गई है।

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों पर होने वाले अत्याचारों एवं अपराधों पर अंकुष लगाने के लिए सरकार ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 पारित किया । इस अधिनियम को 'हरिजन एक्ट' के नाम से भी जाना जाता है। इस महत्वपूर्ण अधिनियम के अलावा विभिन्न राज्यों में जातियों के विभिन्न आधिकारों को संरक्षित

करने के लिए कई अन्य अधिनियम परित किये गये हैं जो इन्हें विकास एवं मुख्य धारा में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

स्पष्ट हैं कि वैद्यानिक स्तर पर अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों को सुरक्षा, अधिकारों का संरक्षण तथा विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं को लाभ देने के उपाय किये गये हैं। जनजातियों में भूमि हस्तांतरण की समस्या उनकी आबादी की गरीबी के लिए शुरू से उत्तरदायी रही है। विकास के नाम पर विनाषकारी तथा उचित मुआवजा न मिलना जनजातियों की मूल समस्यांए रही हैं। इन समस्याओं के निवारण हेतु विभिन्न राज्यों में भूमि के स्वामित्व को बनाये रखने तथा इसके नाम पर किसी भी प्रकार के शोषण को रोकने के लिए वैधानिक उपबंधों को लागू किया गया।

कानून तथा उपचार के प्रयास -

साहूकारी, ऋण ग्रस्तता तथा भूमि हस्तातरण जैसी गतिविधियां आदिवासियों की मूल समस्यायें रही हैं। हसनैन लिखते हैं कि संविधान निर्माण के साथ-साथ प्रमुख वैधानिक उपायों को लागू कर जनजातियों को मुख्य धारा में लाने के प्रयास हुए। संविधान की पॉचवी अनुसूची राज्य के राज्य पाल को जनजातीय क्षेत्रों में साहूकारों तथा ऋणदाताओं के व्यवसाय को जनजातीय क्षेत्रों में नियमित करने का अधिकार देती है। इस प्रावधान के अर्न्तगत राजय सरकारों ने विभिन्न नियमों, अधिनियमों की सरंचना की है। ऋण से मुक्ति तथा ऋण बंधन के उन्मूलन के नियंत्रण के संबंध में राज्यों द्वारा बनाये गये कुछ महत्वपूर्ण नियम निम्नलिखित है।

1. आन्ध्रप्रदेश जनजातीय क्षेत्र साहूकार विनियम, 1963
2. संस्थागत ऋण बन्धन उन्मूलन 1964
3. असम साहूकार विनियम , 1968
4. बिहार महाजन (लेनदेन का नियमन) अधिनियमन, 1939
5. बम्बई कृषि ऋणदाता सहायता अधिनियम, 1947
6. केरला महाजनी अधिनियम, 1958
7. मध्यप्रदेष अनुसूचित जनजाति ऋणी सहायता अधिनियम, 1966

8. मद्रास ऋणग्रस्त कृषक (ऋण की वापसी) अधिनियम, 1955

9. मैसूर अधिव्यवसायी (पॉन बोकर्स) अधिनियम, 1961

10. उड़ीसा साहूकार, निष्चित प्रावधानों का क्रियान्वयन, विनियम, 1950

11. राजस्थान सगरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1961 (परिषिष्ट में इन नियमों, विनियमों तथा अधिनियमों की विस्तृत सूची संलग्न है।)

विभिन्न संस्थाओं के अध्ययन से यह पता चलता है इन अधिनियमों के बाद भी जनजातियों को शोषण लगातार हो रहा है। नियमों तथा विनियमों का उल्लंधन किया जा रहा है तथा साहूकार उपने ऊपर लगाये गये नियंत्रणों पर बहुत कम ध्यान देते हैं । अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति की रिपोर्ट के साथ -साथ योजना आयोग के अध्ययन दल की रिपोर्ट भी उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करती है। हसनैन के अनुसार इन स्थितियों के कारण निम्नलिखित हैं:-

(अ) बंधुआ मजदूरी की प्रथा से जनजातियों को बचाने के लिए पॉचवी अनुसूची में किये गए सुरक्षात्मक प्रावधानों का राज्य सरकारों ने समुचित प्रयोग नहीं किया।

(ब) साहूकारों द्वारा नियमों के उल्लंघन पर राज्य सरकार दंण्ड प्रावधानों का प्रभावी उपयोग करने में असमर्थ रहीं ।

(स) सुरक्षात्मक प्रावधानों के क्रियान्वयन तथा मुक्ति दिलाने की इच्छा तथा समर्पण में कमी के कारण आज भी इन साहूकारों द्वारा इन जनजातियों का शोषण हो रहा है।

जनजातीय विकास कार्यक्रमों पर योजना आयोग के अध्ययनदल की रिपोर्ट ने इन स्थितियों को स्पष्ट रूप से उजागर किया है। इसके अनुसार ऋणग्रस्तता को समाप्त करने के लिए दोहरी नीति का पालन किया जाना चाहिए । एक ओर साहूकारों के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिए जनजाति को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने चाहिए तथा दूसरी ओर उनकी आर्थिक स्थितियों में सुधार लाकर उन्हें ऋण वापस करने में सक्षम बनाना चाहिये । सहकारी ऋण संस्थाओं को इन जनजातियों के बीच में कार्य करने के साथ - साथ ऋण प्राप्त करने की औपचारिकताओं को भी सुविधा से अधिक लाभान्वित हो सकेंगे । इन सबके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण प़क्ष है राजनैतिक इच्छा, जो लोग जनजातीय कल्याण कार्यो में लगे हैं उनकी ईमानदारी तथा उनका समर्पण भी बहुत महत्वपूर्ण

भूमिका निभाता है । इस गम्भीरता, ईमानदारी तथा समर्पण की कमी होने पर कोई भी नियम या प्रावधान प्रभावी नहीं हो सकता।

मुक्ति के प्रयास / कदम

भूमि हस्तांतरण के तीन मूल कारणों - (अ) न्याय व्यवस्था में कमी (ब) जनजातीय लोगों की उपेक्षा तथा (स) पेचीदा न्याय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए विभिन्न राज्य सरकारें जनजातियों की सहायता के लिए प्रयास कर रही हैं परन्तुं असम, मणिपुर तथा मिजोरम के पहाडी क्षेत्रों को छोड़कर अन्य स्थानों पर अधिक लाभ नहीं हुआ है।

जनजातियों की भूमि की सुरक्षा के लए उठाये गये विभिन्न वैधानिक कदमों की चर्चा से पूर्व अनुसूचित क्षेत्र व अनुसूचित जनजाति आयोग की सलाह का अध्ययन करना उचित रहेगा जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों ने अलग-अलग नियम बनाये। इस आयोग की मुख्य सलाह थी:-

(1) ''जनजातीय भूमि से संबंधित सभी नियमों के पुरावलोकन की आवष्यकता है। जटिल व्यवस्थाओं, जिनके कारण जनजातियों को समुचित सहायता नहीं मिली, का भी परीक्षण होना चाहिए । सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेषों में लागू नियमों तथा अधिनियमों का पुनर्निरक्षण होना चाहिए, और जनजातीय भूमि के अजनजातीय लोगों के पक्ष में हो रहे हस्तांतरण पर कुछ समय के लिए रोक लगानी चाहिए। वर्तमान नियमों में संषोधन की बहुुत आवष्यकता है। यदि इन सभी व्यवस्थाओं में समय लगे तो ऐसी दषा में राज्यपाल को पॉचवी अनुसूची द्वारा दिये गये अधिकारों का प्रयोग करके तुरन्त नये सभी विनियमों की घोषणा करनी चाहिए।

(2) भूमि से संबंधित किसी प्रकार के हस्तांतरण पर रोक होनी चाहिए। किसी भी क्रय, रहन, सहन, उपहार, पट्टे या किसी समझौते के अर्न्तगत जनजातीय लागों की सम्पत्ति का अजनजातीय लागों के पक्ष में हस्तातंरण बिना कलेक्टर की अनुमति के मान्य नहीं होनी चाहिए। जनजातीय सलाहकार समिति की सलाह से सरकार को नियम बनाने चाहिए जो सभी क्षेत्र की स्थितियों का ध्यान रखते हुए कलेक्टर की अनुमति पर नियंत्रण रखें।

(3) कलेक्टर को शोषित जनजातीय लागो के प्रतिनिधित्व पर 3 वर्ष के अन्दर सभी प्रकार की जॉच करने तथा बिना किसी भुगतान के भूमि वापस दिलाने का अधिकार भी होना चाहिए। इस प्रावधान के अर्न्तगत वे सभी प्रकार के भूमि हस्तांतरण आवश्यक हैं जो 26 जनवरी 1956 के बाद

हुए हैं और वे भी आने चाहिए। इन सभी नियमों के पालन एव लागू करने के लिए पूरी व्यवस्था भी होनी चाहिए।

(4) सभी प्रकार के समर्पण और स्वीकृति राज्य सरकार के समक्ष होनी चाहिए जो इनकी भूमि को ट्रस्टी की तरह अपने पास रखे।''

उपरोक्त सलाह और मसविरों के समय कुछ निम्नलिखित नियम लागू थे जो कि अधिक प्रभावी एवं सुरक्षात्मक बनाये जाने के उद्देष्य से या फिर संषोधित किए गए थे, उनमें परिवर्तन किया गया हो:-

(1) आन्ध्र प्रदेश अनुसूचित क्षेत्र भूमि हस्तांतरण विनियम, 1959

(13) अनुसूचित क्षेत्र में सम्पत्ति, किराये में कमी - संषोधन, विनियम, 1951

(3) मध्यभारत अनुसूचित जनजातीय (भूमि आबंटन एवं हस्तांतरण), विनियम, 1954

(4) मध्यप्रदेष भूमि राजस्व कोड, 1959

(5) बम्बई काश्तकारी एवं कृषि भूमि सुधार अधिनियम, 1948

(6) उड़ीसा अनुसूचित क्षेत्र अचल सम्पत्ति हस्तातरंण (अनुसूचित जनजाति) विनियम, 1956

(7) राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, 1955

13.5.2 अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के उत्थान हेतु संवैधानिक उपाय -

संविधान के अर्न्तगत विभिन्न अनुच्छेदों एवं सूचियों में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के उत्थान के लिए विषेष उपाय बताये गये है। एक ओर जहॉ कुछ उपाय सम्मिलित रूप से इन जातियों के हितों को संरक्षण प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर विषिष्ट सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखते हुए अनुसूचित जनजातियों को राज्य विशेष /क्षेत्र विशेषता के आधार पर संविधान के तहत् उनके विकास के लिए विषेष प्रावधानों के तहत् सरंक्षण की बात कही गई है। विषयगत सार को स्पष्ट रूप से समझने के लिए प्रमुख संवेधानिक सुरक्षा उपायों को निम्नवत उल्लिखित किया गया है जो इस प्रकार है -

संविधान और अनुसूचित जनजातियॉ

संविधान में ''जनजाति'' शब्द की परिभाषा मुख्य रूप से कहीं भी नहीं है। मुख्यतः इसकी सम्पूर्ण और सुस्पष्ट व्याख्या कहीं भी नहीं है। आम आदमी के शब्द में यह आचरणों एवं रीति-रिवाजों के साथ पर्वतों और जंगलों में रहने वाले सीधे-साधे जनसमूह की ओर संकेत करता है, कुछ लोगों के अनुसार इस शब्द का अर्थ लोक समुदाय के उन मनोरंजन लोगों से करते हैं जो अपने नृत्य, गीत एवं वनौषधियों के लिये प्रसिद्ध हैं। प्रषासन के अनुसार यह नागरिकों का वह वर्ग समूह है जिसकी विषेष रूप से जिम्मेदारी भारत के राष्ट्रपति पर होती है। लेकिन मानवषास्त्री के अनुसार यह एक सामाजिक वर्ग के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टिकोण में ये सभी धारणाएं सही है।

संविधान में जनजाति की परिभाषा यह है कि अनुसूचित जनजातियां वे है जिन्हें 'राष्ट्पति ने अनुच्छेद 342 की लोक अधिसूचना द्वारा जनजातियों या जनजाति-समुदायों एवं जनजातियों या जनजाति समुदाय के भागों में विनिर्दिष्ट किया है।

स्वाधीनता के उदय एवं स्वतंत्र भारत का संविधान स्वीकार हो जाने के बाद उनके विकास और कल्याण का दायित्व राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के माध्यम से लोकप्रिय सरकार को सोंपा गया। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिये विषेष रूप से अनुच्छेदों में व्यवस्था की गई है। अधिकतर इसमें दोनों ही वर्गों के लिए एक समान अधिकार हैं लेकिन कुछ इन दोनों में से किसी एक पर लागू होते हैं। निम्नलिखित रूप से इन संवैधानिक उपबन्धों को दो समूहों में विभाजित किया गया है।

(1) संरक्षण संबंधी उपबंध

(2) विकास संबंधी उपबंध

संरक्षण संबंधी उपबंध, जो इनके विकास के लिए आवष्यक है। उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक शोषण एवं अन्याय से संरक्षण प्रदान करते हैं। संवैधानिक उपबंध संक्षेप में निम्नलिखित है।

संरक्षी उपबंध

अनुच्छेद 15 (4): सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक हितों को प्रोत्साहन - इसके द्वारा धर्म, मूलवंष, जाति, लिंग एवं जन्मस्थान के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध किया गया

है लेकिन इस अनुच्छेद के खंड 4 में एक छूट की व्यवस्था है जिसमें राज्य के अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों, सामाजिक और शैक्षिक रूप से जो पिछड़े नागरिकों की उन्नति एवं प्रगति के लिए उपबन्ध बनाने का अधिकार दिया है। यह उपबन्ध अनुच्छेद 46 में इस नीति के अनुसार है कि राज्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ कमजोर वर्गों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहित करना और सामाजिक अन्याय से उनकी रक्षा करना।

अनुच्छेद 16(4): पदों एवं नौकरियों में आरक्षण और अनुच्छेद 19 (5): सम्पत्ति के मामलों में जनजातियों के हितों की सुरक्षा - संविधान में भारत के राज्य क्षेत्र में सभी नागरिक को अबाध संचरण, उसके किसी भी भाग में बसने - निवास करने और संपत्ति का क्रय-विक्रय करने के अधिकार की गारन्टी दी गई है तो अनुचछेद 19 (5): के अंतर्गत राज्य अनुसूचित जनजाति के लोगों के हितों की विषेष रक्षा पर प्रतिबंध लगा सकती हैं क्योंकि इस समाज के साथ सभी प्रकार की धोखेबाजी करना और इनका शोषण करना आसान है इसलिए ऐसी व्यवस्थाएं भी बनायी गयी हैं।

अनुच्छेद 23: मानव का अवैध व्यापार और बलाव श्रम का निषेध आदि - इसमें मानव का दुर्व्यवहार, बेगार और अन्य प्रकार के बलाव श्रम निषिद्ध किये गये है। यह उपबन्ध बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि अनुसूचित जनजातियों का शोषण करना बड़ा आसान है और उनके लोगों को बंधुआ बनाया जा सकता है।

अनुच्छेद 29: सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार -अनुच्छेद 29 (2) अनुच्छेद 15 की धारा 4 से नियंत्रित है। संषोधन अधिनियम 1951 द्वारा संविधान में सम्मिलित है। इसने अनुच्छेद 15 और 29 को अनुच्छेद 16 (4), 46 और 340 के अनुकूल बना दिया है। इस प्रकार राज्य द्वारा सरकारी शैक्षिक संस्थानों में पिछडे वर्ग के पदों का आरक्षण संविधान सम्मत हो गये है। अनुच्छेद 29 के अनुसार भारतीय नागरिकों के किसी भी ऐसे अनुभाग को जिसकी अपनी मुख्य भाषा, लिपि एवं संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार है। यह अनुच्छेद अनुसूचित जनजातियों को अपनी भाषा और संस्कृति को बनाये रखने का संरक्षण प्रदान करता है। राज्य द्वारा कानून बनाकर उन पर कोई संस्कृत एवं भाषा लादी नहीं जा सकती है।

अनुच्छेद 46: अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि-

अनुच्छेद 164- बिहार, उडीसा और मध्यप्रदेष राज्यों में जनजातियों के कल्याण के भारसाधक मंत्री की नियुक्ति - इन राज्यों में जनजातियों के लोगों की खासी आबादी है और जनजाति के कल्याण के लिए विषेष रूप से एक मंत्री की व्यवस्था , जनजाति के हितों की सुरक्षा के लिए संविधान निर्माताओं की चिंता की साक्षी है।

अनुचछेद 330, 332 और 334; लोकसभा एवं विधानसभाओं में आरक्षण

अनुच्छेद 335: आरक्षण के दांवे व सीमायें

अनुच्छेद 338: विषेष अधिकारी की नियुक्ति -

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विषेष अधिकारी की व्यवस्था है जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करता है। इस विषेष अधिकारी का मुख्य काम है कि वह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए संविधान के अधीन उपबंधित रक्षात्मक उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करना। वह रक्षात्मक उपायों के कार्यक्रमों के संबध में, ऐसे अन्तराल पर जो राष्ट्रपति निद्रिष्ट करें, राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे। ऐसी सभी रिपोर्टों को संसद के सभी सदन के सामने रखवायेगा। यह विषेष अधिकारी-''अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त'' कहलाता है। 65वें संषोधन के बाद अब इसके स्थान पर अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग गठित हो चुका है।

अनुच्छेद 339(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति किसी समय या संविधान के प्रारम्भ से 10 वर्ष की समाप्ति पर अनुसूचित क्षेत्रों के प्रषासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में रिपोर्ट देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करेगा।

अनुच्छेद 339 (2) के अन्तर्गत संघ सरकार किसी राज्य को उसकी अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए परमावष्यक योजनाओं को बनाने और क्रियान्वित करने का निर्देष दे सकेगी।

आर्थिक विकास के उद्देश्य से की गयी व्यवस्थाएं

अनुच्छेद 275 और 339- अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लिए मुख्य व्यवस्थाएं अनुच्छेद 275 और 339 के अन्तर्गत की गई हैं। अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत संविधान के उपबन्धों की पूर्ति के लिए राज्यों को संघ से अनुदान मिलने की भी व्यवस्था हे। अनुच्छेद 339 (2) की

स्थापना है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी ऐसे राज्य को निर्देष देना जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए निर्देष आवष्यक बताये गये स्कीमों को बनाने और उनके निष्पादन के बारे में है।

पांचवी और छठी अनुसूचियां

संविधान के दसवें भाग में अनुच्छेद 244 और 244 (क) के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रषासन से संबंधित व्यवस्थाएं हैं। संविधान में अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों का एक विषेष अर्थबोध है। अनुसूचित क्षेत्रों का शासन पांचवीं अनुसूची के उपबन्धों के अनुसार होता है। इसलिए इन क्षेत्रों को ''पॉचवी अनुसूची क्षेत्र'' भी कहा जा सकता है। जनजाति क्षेत्रों का शासन छठी अनुसूची के उपबंधों के आधार पर होता है।

पॉचवी अनुसूची

अनुसूचित क्षेत्रों ओर उनके प्रषासन पर पॉचवी अनुसूची के उपबंध लागू होते है। यहॉ उन क्षेत्रों से मतलब है जिन्हें राष्ट्रपति के आदेषानुसार अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया है। संसद को इस अनुसूची में कोई भी संषोधन करने का अधिकार है और उसे अनुच्छेद 368 के लिए संविधान का संषोधन नहीं माना जावेगा।

अनुसूचित क्षेत्रों का इतिहास ''अनुसूचित जिला एक्ट 1876'' से प्रारंभ होता है जिसके अर्न्तगत अनुसूचित जिलों में दीवानी ओर फौजदारी के मामलों में न्याय करने, बस्तियों की देखभाल, सरकारी राजस्व की उगाही, लगान आदि से संबंधित मामलों ओर अन्यथा परिस्थितयों में अधीक्षण करने तथा प्रशासन चलाने की व्यवस्था की गई थी। इसके बाद ये क्षेत्र ''भारत सरकार एक्ट 1919'' तथा ''भारत सरकार एक्ट 1935'' (बहिरगत और अंषतः बहिरगत क्षेत्र एक्ट) के दौर से गुजरते हुए अब वर्तमान संविधान में पॉचवी अनुसूची के अर्न्तगत है।

अनुसूचित क्षेत्रों का गठन दो उद्देष्यों में किया गया है। (क) बिना किसी बाहरी बिघ्न या रूकावट के जनजाति के लोगों को अपने मौजूदा अधिकारों का पूरा - पूरा लाभ उठाने में सहायता देना (ख) अनुसूचित जनजातियों को विकास करना एवं अनुसूचित जनजातियों के हितों को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करना।

राष्ट्रपति के आदेष से ऑध्रप्रदेष, बिहार, गुजरात, मध्यप्रदेष, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेष के कुछ क्षेत्रों को अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया जा चुका है। पॉचवी अनुसूची की मुख्य विषेषतांए है। (क) राज्यपाल की विषेष विधायी शक्तियॉ (ख) राष्ट्रपति को राज्यपाल का प्रतिवेदन तथा (ग) 'जनजाति सलाहकार परिषद' का गठन

छठी अनुसूची

छठी अनुसूची असम, मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा राज्यों के जनजाति क्षेत्रों पर लागू होती है। इन जनजाति क्षेत्रों की मुख्य विषेषताएं है।

(क) अपने अधिकार क्षेत्र के मामलों में ये पूरी तरह से स्वषासी है। दूसरे शब्दों में ''राज्य के भीतर राज्य'' की संज्ञा की जाती है।

(ख) स्वषासी जिला और स्वषासी परिषदों के जरिये जनजातियों का अपना प्रबंध अपने आप करने की अधिकार शक्ति।

(ग) इन क्षेत्रों की स्वायत्ता इस सीमा तक हैं कि संसद अथवा राज्य विधान मण्डल का कोई समादेष उनके यहॉ तब तक स्वतः मान्य नहीं होता जब तक कि संबंद्ध अधिनियम का पूर्णतः विस्तार राज्यपाल द्वारा मुख्य रूप से मुख्य क्षेत्र के लिए अधिसूचित नहीं किया जाता । ऊपर बताये गये चार राज्यों में जनजाति क्षेत्रों के नौ स्वषासी जिले है। यहां राज्यपाल का पद स्वषासी जिलों की तरह अपने ढंग का अनोखा है। अनेक मामलों में उसका पद वैसा ही है जैसा कि राज्यों के मामले में राष्ट्रपति का होता है

नागालैण्ड, असम मणिपुर के जनजाति क्षेत्रों व पर्वतीय क्षेत्रों से संबंधित विषेष उपबंध

अनुच्छेद 371 - क (1 नागालैण्ड)

इस अनुच्छेद के अनुसार ऐसा कोई भी अधिनियम जो (1) नागाओं की धार्मिक रीति रिवाजों या अन्य सामाजिक प्रथाओं, (2) उनकी परंम्परागत विधि और प्रक्रिया, (3) अनौपचारिक न्याय व्यवस्था प्रणाली का नियमन, दीवानी और फौजदारी से संबंधित मामलों में और (4) भूमि और उसके संपत्ति स्रोतों के स्वामित्व एवं अन्तरण से संबंधित है, नागालैण्ड राज्य पर तब तक लागू नहीं होगा जब तक उस राज्य की विधानसभा संकल्प द्वारा वैसा पारित नहीं कर देती।

अनुच्छेद 371 ख (असम) - राष्ट्रपति के आदेश द्वारा असम राज्य की विधानसभा की एक समिति का गठन किया जावेगा। इस समिति की व्यवस्था का उद्देष्य राज्य के स्तर पर जनजातीय समुदाय के हितों का संरक्षण और देखरेख करना होता है।

अनुच्छेद 371 - ग (मणिपुर) - इसके अर्न्तगत राज्यपाल को प्रतिवर्ष या जब कभी राष्ट्रपति वैसी अपेक्षा करें, राष्ट्रपति को मणिपुर राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों के प्रषासन के बारे में प्रतिवेदन देना होता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उक्त क्षेत्रों के बारें में राज्य को निर्देष देने तक है।

अनुच्छेद 275 -भारतीय संविधान ने राष्ट्र पर यह उत्तरदायित्व दिया है कि वह अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों का विषेष ध्यान रखने के साथ-साथ सामाजिक अन्याय तथा शोषण से उनकी रक्षा करे। संविधान के इस अनुच्छेद के तहत् अनुसूचित व जनजातीय क्षेत्रों के प्रषासन को स्तर पर लाने तथा विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के उद्देष्य से अनुदान देने का प्रावधान है, जो कि केन्द्र सरकार राज्य को देती है। जनजातियों को राष्ट्र की मुख्य विकास धारा में लाने के लिए विषेष धनराषि के आवंटन का प्रावधान है।

अनुच्छेद 243 (घ) के अर्न्तगत पंचायत में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटो के आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। योजना और निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया में जनजातियों की प्रभावी भागीदारी को सुनिष्चित करने के लिए पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों का विस्तार) अधिनियम, 1996 के माध्यम से संविधान के 73वे संषोधनों का विस्तार।

13.6 अन्य पिछड़े वर्गो के उत्थान के लिए गठित आयोग

भारतीय संविधान के अंर्तगत पिछड़े वर्ग की कोई स्पष्ट परिभाषा या अवधाराणा नहीं दी गई है। संविधान निर्माण प्रक्रिया के दौरान भी संविधान सभा बहस में इस पर जोर दिया गया किन्तु कोई सर्वमान्य अवधारणा विकसित नहीं हो पायी बल्कि यह कहा गया कि 'पिछड़ा' शब्द की महत्ता इस बात से नहीं है कि एक वर्ग विषेष के लोगों को छूत या अछूत समझा जावे या समूदाय विषेष से। सार सिर्फ यह है कि एक तबका इतना पिछड़ा है कि रोजगार में उनको विषेष संरक्षण प्रदान किया जावे ष्। शायद संविधान निर्माताओं का यह मानना था कि हिन्दू जातिगत विषमता 'पिछड़े वर्ग' विभाजन को गैर - हिन्दुओं में मान्यता नहीं देता है। जबकि गैर हिन्दू जातियॉ जो धर्म विषेष से संबंधित हैं उसमें समाज का एक तबका आर्थिक विपन्नता का षिकार है।

केलकर आयोग - उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए तथा समग्र विकास की भावना को लेकर, संविधान के अनुच्छेद 340 के अर्न्तगत राष्ट्रपाति के आदेष द्वारा 29 जनवरी 1953 को काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन किया गया। आयोग ने सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़ी जातियों को चिन्हित करने के लिए निम्नलिखित प्रमुख आधारों को संदर्भित किया -

1. ऐसे पैमाने जिसमें एक वर्ग या लोगों को एक समूह पिछड़ा कहा जा सके,

2. ऐसे पिछड़े समुदायों की राष्ट्र स्तर पर सूची तैयार करना तथा

3. पिछड़े वर्गों की समस्याओं की विवेचना करना तथा ऐसे उपायों का सुझाव देना जिससे इस प्रकार की समास्याओं को दूर किया जा सके।

इस प्रकार इस आयोग ने 30 मार्च 1955 को एक विस्तृत रिपोर्ट दी। आयोग द्वारा पिछडेपन के लिए जिन आधारों को लिया गया उनमें से - सरकारी नौकरियों में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व, रोजगार के अवसरों की कमीं, बिना किसी निष्चित आश्रय के घुमन्तू जीवन, कृषक मजदूर के रूप में काम करना, उच्च जातियों की तुलना में षिक्षा व नेतृत्व का अभाव इत्यादि। आयोग द्वारा 2399 जातियों या समुदायों को पिछड़ा वर्ग मानने की संस्तुती दी गई। स्पष्ट है कि आयोग द्वारा जो बिन्दु लिये गये थे वह बहुसंख्यक जनसंख्या को सम्मिलित करते थे।

आयोग द्वारा प्रस्तुति संस्तुतियों को 3 सिंतम्बर 1956 को संसंद के सामने रखा गया तथा साथ ही विभिन्न राज्य सरकारों की राय जानने हेतु रिपोर्ट को भेजा। किन्तु व्यापक स्तर पर राज्य सरकारों एवं केन्द्र सरकार के बीच 'पिछड़े वर्ग की सूची' को लेकर कोई आम सहमति नहीं बन पायी। फलस्वरूप आयोग द्वारा दिये गये सुझावों को अमान्य कर दिया गया।

मण्डल आयोग - प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग की खामियों को दूर करने के लिए 1978 में वी.पी. मण्डल की अध्यक्षता में दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन किया गया। आयोग को निम्नलिखित बातें तय करनी थी –

1. सामाजिक व शैक्षिक तौर पर पिछड़े वर्गों को परिभाषित करने के उदेद्ष्य से आधार सुनिष्चित करना।

2. इस प्रकार से चिन्हित सामाजिक व शैक्षिक पिछड़े वर्गो के उन्नयन के लिए संस्तुतियॉ प्रस्तुत करना,

3. सार्वजनिक सेवा में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व को लेकर नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान पर गौर करना

आयोग को 31 दिसम्बर 1980 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। पिछड़े वर्गों को सूचीबद्ध करने के लिए आयोग ने सामाजिक, शैक्षिक व आर्थिक आधारों को लेकर 11 मानक तय किये। इस प्रकार आयोग ने 3743 जातियों को चिन्हित किया और अनुमान लगाया कि 52 प्रतिषत से ज्यादा जनसंख्या पिछड़ा वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। अन्य पिछड़े वर्गो के सामाजिक र्- आर्थक उत्थान के लिए आयोग ने कुछ संस्तुतियां दी जो निम्नलिखित हैं -

1. ओ.बी.सी. का लोक सेवा में प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है उन्हें आरक्षण का लाभ मिलना चाहिए।

2. अनुच्छेद 15 (4) व 16 (4) के अर्न्तगत संपूर्ण आरक्षण 50 प्रतिषत से कम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में ओबीसी का आरक्षण 27 प्रतिषत होना चाहिए।

3. जिन क्षेत्रों में ओबीसी की जनसंख्या का घनत्व अधिक है वहां शैक्षिक सुविधाएं बढ़ा कर सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण की बेहतरी के लिए कार्य होना चाहिए।

4. ओबीसी छात्रों को रोजगारोन्मुखी व्यवसायिक षिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। तकनीकी और व्यवसायिक संस्थानों में उन छात्रों को विषेष कोचिंग सुविधाएं देनी चाहिए, ताकि वे भी अन्य सामान्य छात्रों के साथ मुकाबला कर सकें।

5. ग्रामीण कारीगरों की योग्यता बढ़ाने के लिए विषेष प्रषिक्षण कार्यक्रम होने चाहिए और आर्थिक संस्थानों को इस वर्ग के लोगों के लिए विषेष ऋण सुविधा उपलब्ध करानी चाहिए ताकि वे लघु उद्योग लगा सकें।

13 अगस्त 1990 को एक मेमोरेण्डम के माध्यम से भारत सरकार द्वारा मण्डल कमीशन की सिफारिषें मान ली गई। मण्डल कमीशन के विरोध में स्थान - स्थान पर उग्र हिंसक प्रदर्षन हुए। विभिन्न न्यायालयों में इनके खिलाफ वाद दायर किये गये। सुप्रीम कोर्ट ने अन्य पिछड़ी जातियों के

संदर्भ में क्रीमीलेयर (ओबीसी में शैक्षिक व सामाजिक रूप से उच्च वर्ग को छोड़कर) अन्य के लिए मंडल कमीषन की सिफारिषों को मान लिया।

13.7 संवैधानिक एवं वैधानिक उपायों की स्थिति की समालोचना

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तथा संविधान निर्माण के साथ न्याय की भावना को मूलाधार मानते हुए, समाज के सभी वर्गो के अधिकारों को संरक्षित करने के प्रयास किये गये। किन्तु जातिगत विषमता आज भी कुछ अपवादों को छोड़कर ग्रामीण सामाजिक पर्यावरण को प्रभावित कर रही है। आज भी कमजोर वर्गो / जातियों को उच्च जातियों द्वारा किसी न किसी रूप में शोषण हो रहा है। समानता की मूल भावना जो संविधान में निहित है वह आरक्षण की वैषाखी के माध्यम से आज जातियों को विभाजित करने का पुनः कार्य कर रही है किन्तु यह भी सच है कि यदि रोजगार व षिक्षा के अवसरों में समाज के निर्बल वर्गो को आरक्षण का लाभ न दिया जाता तो शायद ही देष विकास की ओर उन्मुख हो पाता। स्पष्ट है कि समग्र विकास के लिए किसी भी पूर्वाग्रह से दूर रहकर सभी को समाज के कमजोर वर्गो को राष्ट्र की मुख्यधारा में जोड़ने की जरूरत है।

13.8 सारांश

विभिन्न वैधानिक उपायों के माध्यम से समाज के कमजोर वर्गो के अधिकारों को सरंक्षित करने के प्रयास हुए। आज षिक्षा व रोजगार के अवसर समाज के सभी लोगों तक पहुॅच रहे हैं। आर्थिक प्रतिस्पर्धा ने समाज के सभी लोगों को एक साथ लाने में सहयोग दिया है, साथ ही साथ पष्चिमीकरण, संस्कृतिकरण व आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं ने परम्परागत हिन्दू मानसिकता को बदला है । उसके बावजूद कमजोर वर्गो की स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। आरक्षण जैसे संवैधानिक उपायों के माध्यम से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गो के लोगों को मुख्य धारा में जोड़ा जा रहा है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्तर पर लोगों की भागीदारी सुनिष्चित की जा रही है किन्तु समाज में आज भी कमजोर वर्गो को बहुत बड़ा तबका शैक्षिक और आर्थिक रूप से विषमतापूर्ण जीवन जीने को बाध्य है। स्पष्ट है कि न्यायपालिका , कार्यपलिका तथा विधायिका के लगातार प्रयासों के बावजूद आरक्षण या अन्य कल्याणकारी योजनाओं का लाभ वंचित समूहों को उस सीमा तक नहीं मिल पा रहा है जिसके वह

वास्तविक हकदार हैं। यह लाभ इन वर्गो के बीच उत्पन्न 'प्रभु जाति/परिवार/समुदाय ही ले रहे है। स्पष्ट है इस स्थिति में व्यापक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है

13.9 अभ्यास प्रश्न

1. अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति को परिभाषित कीजिए।
2. पिछड़े वर्गो के आषय को समझाइये।
3. समाज के कमजोर वर्गो के उत्थान के लिए वैधानिक उपायों की चर्चा कीजिए।
4. पिछड़े वर्गो के संवैधानिक अधिकारों की चर्चा कीजिए।
5. मण्डल आयोग पर टिप्पणी लिखिए।
6. आरक्षण व्यवस्था की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

13.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. हसनैन, नदीम 2004 समकालीन भारतीय समाज एक समाजषास्त्रीय परिद्रष्य, लखनऊ: भारत बुक सेन्टर

2. गुप्ता, श्याम सुन्दर 1974. प्रेफेरेंन्सियल ट्रीटमेंट इन पब्लिक इंप्लाइमेंट एण्ड इक्वालिटी आफ अपारचुनिटी, लखनउः इस्टर्न बुक कम्पनी

इकाई 14 जनजातीय समाज
Tribal Society

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 अर्थ एवं परिभाषायें

14.3 जनजातीय समाज की विशेषतायें

14.4 भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियों की संख्या

14.5 भारतीय समाज में जनजातियों का वर्गीकरण विभिन्न स्वरूपों में

14.6 जनजातीय समाज में विवाह के स्वरूप

14.7 जनजातीय समाज में जीवनसाथी चुनने के तरीके

14.8 जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवार

14.9 सारांश

14.10 परिभाषिक शब्दावली

14.11 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

14.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.14 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

जनजातीय समाज हमारे देश के विभिन्न भागों में देखे जाते हैं। गोड़, संथार, जौनसार, हो, टोडा, बैंगा, भील, मुन्डिया आदि विभिन्न जनजातियाँ हमारे समाज में पाये जाते हैं। जनजातियों की अपनी अलग संस्कृति व परम्परायें हैं जिसे वे अपने समाज के अर्न्तगत पालन करते हैं। जनजातीय समाज का विवाह का प्रचलन कैसा है व विवाह करने के तौर तरीके तथा जीवनसाथी चुनने का तरीका क्या-क्या है, इससे आप परिचित होगें। जनजातियों का परिवार कैसा होता है, परिवार के कार्य व कार्यपद्धतियाँ कैसी होती है इसके बारे में जान पायेगें। इस प्रकार जनजातियों की संस्कृति व मौलिकता से परिचित होकर आप यह जान पायेगें कि भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार की जनजातियों की कार्यशैली, जीवनशैली, संस्कृति व परम्परायें किस प्रकार भारतीय संस्कृति के साथ समायोजित हो रही है।

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अर्न्तगत आप इन बिन्दुओं से अवगत हो पायेगें कि-

- जनजातीय समाज की अर्थ एवं परिभाषायें क्या हैं।
- जनजातीय समाज की विभिन्न विशेषतायें।
- भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियां की संख्या।
- जनजातियों का वर्गीकरण विभिन्न स्वरुपों में।
- जनजातीय समाज में विवाह का स्वरुप।
- जनजातीय समाज में जीवनसाथी चुनने के तरीके कौन-कौन से हैं।
- जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवार किस प्रकार के हैं।

14.2 अर्थ एवं परिभाषायें

जनजाति या वन्य जाति से ऐसे समूह का बोध होता है जिसके सदस्य सभ्यता का आदिम अवस्था में निवास करते हैं। इस समूह का इस निश्चित भू-प्रदेश होता है तथा उसकी अपनी एक विषेश प्रकार की भाषा, धर्म, प्रथा और परम्परायंऐ होती हैं। ये आज भी आर्थिक रुप से काफी पिछड़े हुए हैं। जनजाति समान नाम धारण करने वाले परिवारों का एक संकलन है जो समान बोली बोलते हों, एक ही

भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों। साधारणतया अन्तर्विवाही न हो, वे सभी जनजाति कहलाते हैं।

गिलीन तथा गिलीन ने जनजातियों को परिभाषित करते हुए कहा कि स्थानीय आदि समूहों के किसी भी संग्रह हो जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, सामान्य भाषा बोलता हो और सामान्य संस्कृति का अनुकरण करता हो एक जनजाति कहलाता है।

डॉ. रिवर्स ने जनजातियों को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हों तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रुप से कार्य करते हों, जनजाति कहलाते है।

आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हों तथा साधारणतया उनका अपना एक सामान पूर्वज हो, वे जनजाति की श्रेणी में आते है।

लूसी मेयर ने जनजाति को सामान्य संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतंत्र राजनैतिक विभाजन माना है।

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं को आप पढकर जान गये होगें कि एक जनजाति वह क्षेत्रीय मानव समूह है जो एक भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम, आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यतया एक ही सूत्र में बंधे होते हैं। इनमें आपसी समानता कायम होती है।

14.3 जनजातीय समाज की विशेषतायें

(1) **निश्चित सामान्य भू-भाग**- जनजाति का एक निश्चित और सामान्य भू-भाग होता है जिस पर वह निवास करती है। सामान्य भू-भाग की अनुपस्थिति में जनजाति में उसकी अन्य विशेषतायें, सामुदायिक भावनायें, सामान्य बोली आदि भी नहीं रहेगीं। इसलिए जनजाति के लिए एम सामान्य निवास-स्थान जरूरी है।

(2) **एकता की भावना**- किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले ही हर एक समूह को जनजाति नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसके सदस्यों में परस्पर एकता की भावना न हो। यह मानसिक तत्व जनजाति की एक अनिवास विशेषता है।

(3) **सामान्य बोली**- जनजाति के सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं। इससे भी उसमें एकता की सामुदायिक भावना का विकास होता है।

(4) **अन्तर्विवाही समूह** - जनजाति के सदस्य सामान्यतया अपनी जाति में ही विवाह करते हैं, परन्तु अब यातायात और सन्देशवाहन के साधनों के विकास से अन्य जातियों से सम्पर्क में आने के कारण जनजातियों से बाहर विवाह करने की प्रथा भी बढ़ती जा रही है।

(5) **रक्त-सम्बंधों का बन्धन** - जनजाति मे पाई जाने वाली सामुदायिक एकता की भावना एक बड़ा कारण उनके सदस्यों में परस्पर रक्त-सम्बधों का बन्धन है। जनजाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति किसी सामान्य, वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज में मानते हैं और इसलिए अन्य सदस्यों से रक्त-संबंध मानते हैं। इन संबंधों के आधार पर ही वे परस्पर बंधे रहते हैं।

(6) **राजनीतिक संगठन**- इस तरह हर एक जनजाति का एक राजनीतिक संगठन होता है जो जाति के सदस्यों में सामंजस्य रखता है, उनकी रक्षा करता है, और महत्वपूर्ण मसलों पर निर्णय देता है।

(7) **धर्म का महत्व-** जनजाति में धर्म का बड़ा महत्व है। जनजातीय राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन धर्म पर आधारित है क्योंकि धार्मिक स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर सामाजिक और राजनीतिक नियम अनुलंघनीय बन जाते हैं।

(8) **खानपान व्यवहार -** जनजातियाँ अधिकतर माँस आधारित वस्तुएँ खाती हैं, वे मद्यपान की भी आदि होती हैं।

14.4 भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियों की संख्या

सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत मे जनजातियों की जनसंख्या 1.91 करोड़ थी। परन्तु सन् 1956 में राज्यों के पुनर्संगठन के बाद भारत की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या प्रायः 2.25 करोड़ बताई जाती थी। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या 8.43 करोड़ है, जोकि भारत की जनसंख्या का 8.2 प्रतिशत है। जनसंख्या के दृष्टिकोण से मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में जनजातियों की संख्या सबसे अधिक है। वहाँ इन जनजातियों के क्रमशः 1.22 करोड़ तथा 66.17 लाख लोग निवास करते हैं। इसके बाद जनजातियों की कुल जनसंख्या के आधार पर कुछ प्रमुख राज्यों की स्थिति इस प्रकार है- बिहार

7.58 लाख, उड़ीसा 81.45 लाख, महाराष्ट्र 85.77 लाख, गुजरात 74.81 लाख, राजस्थान 70.98 लाख, आन्ध्र प्रदेश 5.02 लाख और पश्चिम बंगाल 4.4 लाख।

अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों की संख्या लाखों में-

वर्ष	कुल जनसंख्या	अनुसूचित जातियों की प्रतिशत	अनु.जनजातियों का प्रतिशत
1961	4390	14.6	6.9
1971	5480	14.5	6.9
1981	6850	15.5	7.9
1991	8443	16.48	8.08
2001	10286	16.20	8.20

14.5 भारतीय समाज में जनजातियों का वर्गीकरण विभिन्न स्वरूपों में

भारतीय समाज में जनजातियों का वर्गीकरण इस प्रकार है-

(1) प्रजातीय वर्गीकरण- भारत में प्रथम प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयास सर हरबर्ट रिज्ले द्वारा किया गया। उन्होंने अपनी खोजों को पीपुल्स ऑफ इण्डिया नामक पुस्तक में 1916 में प्रकाशित कराया। वह समस्त भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय प्रकारों में वर्गीकृत करते हैं-

(i) तुर्को-इरानी

(ii) भारतीय-आर्य

(iii) स्कीथो-द्रविड़

(iv) आर्य-द्रविड़

(v) मंगोल-द्रविड़

(vi) मंगोली

(vii) द्रविड़

(2) **आर्थिक वर्गीकरण-** एडम स्मिथ का शास्त्रीय वर्गीकरण तथा थर्नवाल्ड एवं हर्सकोविट्स की अभिनव वर्गीकरण का, जनजातियों को आर्थिक तौर पर वर्गीकृत करने के लिए सारे विश्व में प्रयोग किया गया है। थर्नवाल्ड द्वारा प्रस्तुत योजना को भारतीय संदर्भ में सर्वाधिक स्वीकार्य माना जाता है तथा यह निम्न प्रकार है:-

- पुरूषों में सजातीय शिकारी समुदाय तथा जाल डालने वाले, महिलायें, संग्रहकर्ता के रुप में। चेंचू, खड़िया तथा कोरवा जैसी कुछ भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी मे आती हैं।
- शिकारियों, जाल डालने वाले तथा कृषकों के सजातीय समुदाय- कामार, बैगा तथा बिरहोर भारत के कुछ उदाहरण हैं।
- शिकारियों, जाल डालने वाले कृषकों और शिल्पियों के श्रेणीकृत समाज- अधिकांश भारतीय जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं। चेरों तथा अगारिया समाज ऐसी जनजातियाँ शिल्पी के रुप में प्रसिद्ध हैं।
- पशुपालक- टोडा तथा भीलों की कुछ उपजातियाँ भारत में ऐसी श्रेणी का शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।
- सजातीय शिकारी तथा पशुपालक- इस श्रेणी का भारतीय जनजातियों में प्रतिनिधित्व नहीं है। टोडा शिकार नहीं करते और न वे मछली या चिड़िया पकड़ते हैं।
- नृजातीय दृष्टि से स्तरीकृत पशुओं का प्रजनन एवं व्यापार करने वाले- उत्तरांचल के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया याक का प्रजनन करवाते हैं तथा घुमन्तु व्यापारी हैं।
- सामाजिक दृष्टि से श्रेणीबद्ध पशुपालक- शिकारी (कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या रहित)।

(3) सांस्कृतिक सम्पर्क पर आधारित वर्गीकरण- वर्तमान शताब्दी के पांचवे दशक में वेरियर एल्विन ने एक सुमीमांकित वर्गीकरण का प्रयास किया। उन्होंने चार प्रकार के आदिवासियों का वर्णन किया हैं:-

- जो सर्वाधिक आदिम हैं तथा एक संयुक्त सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा कुल्हाड़े से कृषि करते हैं।
- वे जो, यद्यपि अपने एकाकीपन तथा पुरातन परम्पराओं से समान रूप से जुड़े हुए हैं, अपेक्षाकृत अधिक वैयक्तिक हैं, कुल्हाड़े से कम ही कृषि करते हैं।
- वे जो संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक हैं, जो बाह्य प्रभाव के कारण अपनी जनजातीय संस्कृति, धर्म तथा सामाजिक संगठनों की क्षति के कारण अपनी पहचान खो रहे हैं।
- भील व नागा जैसी जनजातियाँ जो देश की प्राचीन कुलीनता की प्रतिनिधि कही जाती हैं, जो अपनी मूल जनजातीय जीवन को बचाये हुए हैं तथा जिन्होंने संस्कृति सम्पर्क की लड़ाई को जीत लिया है।

(4) धार्मिक विश्वासों पर आधारित वर्गीकरण- भारत के मुख्य धर्मो ने विचित्र जनजातीय धर्मों तथा देवकुलों को विविध रुपों में प्रभावित किया है तथा केवल वे जनजातीय समुदाय ही अब भी अपने मूल धार्मिक विश्वासों को शुद्धता से कायम रखे हैं जो घने वनों में नितांत एकाकी सामाजिक अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। 1961 तथा 1971 की जनगणना के आंकड़ों के आधार पर जनजातियों को निम्नलिखित धर्मों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

- हिन्दू
- ईसाई
- बौद्ध
- इस्लाम
- जैन धर्म
- अन्य धर्म

बोध प्रश्न-1

1. निम्नलिखित में से जनजाति की विशेषता कौन सी है।

.....

.....

.....

.....

2. भारत में सबसे अधिक जनजाति किस प्रदेश में पाई जाती है।

.....

.....

.....

.....

3. कौन-सी जनजाति मातृसत्तामक है जहाँ माताओं की सत्ता चलती है।

.....

.....

.....

.....

4. संतुलित विनिमय विवाह किसका द्योतक है।

.....

.....

.....

.....

5. किस जनजाति में ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों का विवाह होता है।

.....

.....

.....

.....

14.6 जनजातीय समाज में विवाह के स्वरूप

जनजातियों में विवाह कितने प्रकारों से किया जाता है उन विभिन्न स्वरूपों को आप निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्टतः समझ पायेगं:-

(1) एक विवाह - एक-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पुरूष केवल एक स्त्री से विवाह करता है और उस स्त्री मे जीवनकाल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। जिन समाजों में स्त्रियों और पुरूषों का अनुपात बराबर है उनमे प्रायः एक-विवाह प्रथा पाई जाती है। एक-विवाह सभ्यता की भी एक उत्तम पराकाष्ठा है और भारतीय जनजातियों में एक-विवाह के प्रचलन का एक प्रमुख कारण उनका आधुनिक सभ्य समाज के सम्पर्क में आना है। एक-विवाह असम की खासी, बिहार की संथान और केरल की कादर जनतातियों में पाया जाता है।

(2) बहुपत्नी विवाह - एक पुरूष का अनेक स्त्रियों से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाईयों के कारण सामान्य रुप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियो में नहीं किया जाता है। जनजातियों में धनी व्यक्ति ही अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियों मे बहुपत्नी प्रथा पाई जाती है।

(3) **बहुपति-विवाह** - बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पत्नी के साथ दो या अधिक पुरूषों का विवाह होता है। भारतीयों जनजातियों में इसका प्रचलन बहुपत्नी प्रथा से कहीं कम है। यह केरल के टियान, कुसुम्ब, कोट, लडारवी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा, और देहरादून जिले में जौन-सार-बावर की खास जनजातियों में पाया जाता है। कश्मीर से असम तक इण्डो-आर्यन और मंगोल लोगों में भी यह प्रथा पाई जाती है। भारत के दक्षिण भाग में रहने वाले नायरों में भी बहुपति-प्रथा पाई जाती है और आज भी वहाँ इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

14.7 जनजातीय समाज में जीवनसाथी चुनने के तरीके

भारतीय जनजातियों में निम्नलिखित तरीकों से जीवन-साथी चुने जाते हैं-

- **परिवीक्षा-विवाह (Probationary Marriage)-** इस प्रकार के विवाह में होने वाले पति-पत्नी को एक दूसरे को समझने का मौका दिया जाता है। इसी उद्देश्य से उनको कुछ समय एक साथ रहने की अनुमति दी जाती है, जिससे वे निकट से एक-दूसरे के स्वभाव को पूरी तरह समझ सकें। यदि वे इस परिवीक्षाकाल के पश्चात् विवाह करना चाहते हैं जो उनका विवाह हो जाता है। यदि उनका स्वभाव एक-दूसरे के उपयुक्त और अनुकूल नहीं होता तो वे पृथक हो जाते हैं और युवक कन्या के माता-पिता को कुछ हर्जाना प्रदान करता है। इस प्रकार का विवाह केवल असम की कूकी जनजाति में पाया जाता है।
- **हरण-विवाह(Marriage by capture)** - यह भारत की अनेक जनजातियों में विभिन्न कारणों से प्रचलित है। जैसे- (i) लड़कियों की अत्याधिक कमी जैसे नागाओं में, (ii) अत्याधिक कन्या-मूल-प्रथा का प्रचलन जैसे होश जनजाति में हो, ऐसे विवाह को केपचोओपोरटि और गोंड़ इसे पोसीओथुर कहते हैं।

हरण विवाह के दो रूप हैं - (क) शारीरिक हरण और (ख) संस्कारात्मक या विधिवत् हरण। शारीरिक हरण में लड़का अपने साथियों के साथ वास्तविक रुप में लड़की पर आक्रमण करने या लड़की के गाँव पर आक्रमण करके लड़की को हर ले जाता है। गोंडों में तो कभी-कभी माता-पिता स्वयं लड़की के ममेरे या फुफेरे भाई से अपनी लड़की को हर ले जाने की प्रार्थना करते हैं और उस हालत में हरण का केवल एक नाटक मात्र खेला जाता है। इसके विपरित विधिवत् हरण-प्रथा खरिया, बिरहोज, भूमिज, भील, नागा, मुण्डा आदि जनजातियों में पाई जाती है। इस प्रकार के हरण में एक व्यक्ति

सार्वजनिक स्थान में प्रेमिका की मांग में सिन्दूर भर देता है और हरण को एक मामूली उत्सव का रूप दे दिया जाता है। असम की जनजातियों में लडकियों का हरण, एक गांव जब दूसरे गाँव पर आक्रमण करता है, तब विवाह होता है। मध्य भारत की जनजातियों में हरण उत्सव के अवसर पर होता है।

- **परीक्षा-विवाह(Marriage by Trial)** - इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है और ऐसा उचित भी है, क्योंकि जनजातियों का जीवन अत्यन्त कठोर और संघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमें होली के अवसर पर गोल-गाधेडो नामक एक लोक नृत्य का उत्सव होता है। इस स्थान पर एक बांस या पेड़ पर गुड़ और नारियल बांध दिया जाता है। इसके चारों ओर अन्दर के घेरे में कुमारी लड़कियाँ और बाहर के घेरे में अविवाहित लड़के नाचते हैं। लड़को का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोड़कर गुड़ और नारियल को प्राप्त करना होता है। जबकि लड़कियाँ लड़को को ऐसा करने से भरसक रोकती हैं और उनका घेरा तोड़कर अन्दर जाने वाले लड़कों को खूब मारती, उनके कपड़े फाड़ती, बाल खींचती, यहाँ तक कि उनके शरीर के मांस को नोचती हैं, अर्थात हर तरह से उन्हें अन्दर जाने से रोकती हैं। फिर भी यदि कोई लड़का उनके घेरे को तोड़कर पेड़ पर चढ़ जाता है और गुड़ खाने और नारियल तोड़ने में सफल होता है तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई लड़कियों में से जिसको भी चाहे उसे अपनी जीवन-संगिनी के रूप में चुनने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।
- **क्रय-विवाह(Marriage by Purchase)** - इस प्रथा के अर्न्तगत विवाह के इच्छुक लड़के लड़की के माता-पिता को कन्या-मूल्य देते हैं। ऐसे विवाह संथाल, हो, ओरांव, नागा, कूब, भील आदि जनजातियों में पाये जाते हैं।
- **सेवा विवाह(Marriage by Service)** - अत्यधिक कन्या-मूल्य-प्रथा ने कुछ जनजातियों में गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी है जिसका हल सेवा या विनिमय-विवाह के द्वारा किया गया है। गोंड और बैगा जनजातियों में जो पुरुष कन्या-मूल्य देने में असमर्थ होते हैं वे कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रुप में कुछ समय तक काम करते हैं और इस सेवा से ही कन्या-मूल्य मानकर उस निश्चित समय पश्चात् माता-पिता अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर देते है।

- **विनिमय विवाह (Marriage by Exchange)**- इसका भी उद्देश्य कन्या-मूल्य की बुराईयों से बचना है। इस प्रकार की विवाह प्रथा में दो परिवार अपनी लड़कियों का विवाह एक-दूसरे के साथ कर देते हैं। यह एक ऐसा परिवार है जिसमें किसी को भी नुकसान नहीं होता है। यह प्रथा अत्याधिक कन्या-मूल्य के कारण प्रायः सभी भारतीय जनजातियों में पायी जाती है परन्तु असम की खासी जनजाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।
- **सहमति और सहपालन-विवाह** - बिहार की 'हो' जनजाति उसे 'राजी-खुशी' अर्थात् वर-बधू की सहमति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह करते हैं। इसमें एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती, माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर, गाँव से एक साथ इकट्ठे भाग जाते हैं, और उस समय तक वापस नहीं लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह से सहमत न हो जायें। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार का सामाजिक संस्कार नहीं किया जाता और न ही कन्या-मूल्य दिया जाता है।
- **हठ-विवाह** - यह प्रथा भी, बिरहोर तथा ओराँव जनजातियों में पाई जाती है। ओरांव इसे 'निर्बोलोक' और 'हो' इसे 'अनादर' कहते हैं। 'अनादर' नाम ऐसे विवाह के सबसे उपयुक्त है। इस विवाह में लड़की अपने प्रेमी के घर उसके माता-पिता की बिना इच्छा के प्रवेश करती है और उन्हें अपने लड़के की शादी उससे करने को एक प्रकार से बाध्य करती है। इसमें प्रारम्भ में लड़की को ससुराल में अनेकों अत्याचार, अत्यधिक तथा अनादर सहना पड़ता है। इस कारण इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता है। लड़की इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नहीं हो पा रहा है और युवक भी सहपालन में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में उस लड़की के लिए हठ-विवाह ही एकमात्र होता है।

14.8 जनजातीय समाज में पाये जाने वाले परिवार

प्रत्येक समाज में, चाहे आदिम हो या आधुनिक परिवार का होना आवश्यक है, क्यांकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं। आदिम समाजों में परिवारों को महत्व और भी अधिक है, साथ ही साथ इनके समाज में परिवार के विभिन्न रुप देखने को मिलते हैं। भारतीय आदिम समाज में पाये जाने वाले परिवारों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

- **मूल या केन्दीय परिवार** - इस प्रकार के परिवार का प्राथमिक मूल या केन्द्रीय परिवार इस कारण चाहते हैं कि यह परिवार का सबसे छोटा और आधारित रुप है। इस प्रकार के परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है और इसमें प्रायः एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही आते हैं। भारत ही (हो) जनजाति में इस प्रकार का ही परिवार पाया जाता है।
- **विवाह-सम्बंधी परिवार** - ऐसे परिवारों मे विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। भारत मे (खरिया) जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं।

- **संयुक्त परिवार -** संयुक्त परिवार के अर्न्तगत एक परिवार के अनेक नाते-रिश्तेदार एक साथ रहते हैं। डॉ. दुबे के अनुसार यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही साथ भोजन करते हों और एक आर्थिक ईकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है। इस प्रकार का परिवार भारतीय जनजातियों में अत्यन्त आवश्यक है।

- **एक-विवाही परिवार -** जब एक पुरूष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसा विवाह से उत्पन्न परिवार को एक-विवाही परिवार कहते हैं। भारत की जनजातियों में ऐसे परिवारों की संख्या अधिक नहीं है। भारत में खस, संथाल और कादर जनजातियों में भी एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं।

- **बहु-विवाही परिवार -** जब एक स्त्री अथवा पुरूष एक से अधिक स्त्रियों या पुरूषों से विवाह करते हैं, तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को बहु-विवाही परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो भेद होते हैं- (प) बहुपति-परिवार वह परिवार है जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरूषों से विवाह करके घर बसाती है। उत्तर प्रदेश के जौरसार-बावर की खस जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (पप) बहुपत्नी-विवाह वह परिवार हैं। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियों में पाये जाते हैं, विशेषकर नागा, गोंड़, बैगा इत्यादि

जनजातियों में। पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश नाम और निवास के आधार पर भी परिवार के भेद किये जा सकते हैं।

- **मातृसत्तामक या मातृवंशीय -** इस प्रकार के परिवार में विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर जाकर रहने लगता है, पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है और बच्चे अपने माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। भारत में खासी, गारो आइि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार उल्लेखनीय हैं।
- **पितृसत्तामक या पितृवंशीय परिवार** - ऐसे परिवारों मे सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ में होते हैं। बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के नाम को ग्रहण करते हैं और विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर जाकर रहती है। भारत की अधिकांश जनजातियों में पितृसत्तामक, पितृवंशीय या पितृस्थानीय परिवार पाये जाते हैं।

बोध प्रश्न-2

1. जनजातीय समाज की चार मुख्य विशेषतायें लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. जनजातीय समाज में बहुपत्नी विवाह से आप क्या समझते हैं, चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3. जनजातीय समाज में मातृसत्तामक या मातृवंशीय परिवार से आप क्या समझते हैं। चार बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.9 सारांश

जनजातियाँ भारतीय समाज व संस्कृति को निराली छवि प्रदान करती है। उनकी संस्कृति व रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, पहनावा, शादी-विवाह, पार्टी, पूजा-पाठ, धर्मकृत्य, पारिवारिक कृत्य, विवाह के समय जीवनसाथी चुनने का तरीका आदि भारत के अन्य समाजों से भिन्न-भिन्न हैं। जनजातीय समाज में अर्न्तगत हमने जनजातीय समाज की विशेषता, जनजातीय समाज का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त किया है। भारतीय जनजातीय समाज में विवाह अहमियत क्या है। विवाह का तौर-तरीका एवं जीवनसाथी चुनने का तरीका अनोखा है जो भिन्न-भिन्न जनजातियों में देखा जाता है। जनजातीय समाज के विवाह के स्वरूपों को इस इकाई में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार विवाह से सम्बन्धित विभिन्न गतिविधियों को अभिव्यक्त किया गया है। भारतीय जनजातीय समाज में परिवार का महत्व तथा समाज में उनका स्थान व स्वरूपों का अध्ययन भी इस ईकाई के

अर्न्तगत किया गया है। इस प्रकार जनजातीय के सभी सकारात्मक पहलुओं को स्पष्ट तौर पर उजागर किया गया है जो जनजातीय समाज से अभिभूत कराता है।

14.10 परिभाषिक शब्दावली

- मातृसत्तामक परिवार - ऐसे परिवार में पति विवाहोपरान्त अपनी पत्नी के घर जाकर रहने लगता है और पारिवारिक सत्ता स्त्री के हाथ में होती है।
- हठ विवाह- अपने प्रेमी के घर जबरदस्ती उसके माता-पिता के इजाजत के बगैर प्रवेश कर लड़के को हठ कर विवाह करने का बाध्य करना हठ विवाह कहलाता है।
- मंगोल- पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमांचल प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, असम, सिक्किम आदि प्रदेशों में यह जातियाँ बसी हुई हैं।

14.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. उपर्युक्त सभी (जनजाति अनेक परिवारों या समूहों का संकलन है, प्रत्येक जनजाति की एक सामान्य भाषा होती है तथा विशिष्ट नाम होता है।)

2. मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़।

3. खासी।

4. मैत्री सम्बंधों का।

5. उपर्युक्त सभी (गोड़, खड़िया, कादर)।

बोध प्रश्न-2

1. इस प्रश्न के उत्तर के लिए 14.3 बिन्दु को पढ़कर विस्तार से लिखिए जैसे- एकता की भावना, धर्म का महत्व, खान-पान, राजनैतिक संगठन आदि।

2. इस प्रश्न के उत्तर के लिए इकाई के 14.6 भाग को पढ़कर समझकर चार पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

3. इस प्रश्न के उत्तर के लिए इकाई के 14.8 भाग को पढ़कर समझकर चार पंक्तियों में इसका उत्तर लिखिए।

14.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

जनजातीय भारत- नदीम हसनैन, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स।

सामाजिक मानवशास्त्र परिचय - डॉ. एन. मजुमदार, टी.एन. मदन, मयूर पेपरबॉल्स, नोएडा।

14.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Social Anthropology – Dr. A.R.N. Srivastawa, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।

Sociology of Tribal Society – G.K. Agarwal (SEPD)

Tribal India 1991- Palaka Prakashan, Delhi

14.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. जनजातीय समाज का अर्थ स्पष्ट कीजिए एवं जनजातीय समाज में जीवन साथी चुननें के तरीकों का वर्णन कीजिए।

2. जनजातीय समाज की परिभाषा देते हुए जनजातीय समाज में पायें जाने वाले परिवारों के स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

इकाई 15 ग्रामीण समाज

Rural Society

इकाई की रुपरेखा

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 ग्रामीण समाज का अर्थ व परिभाषायें

15.3 ग्रामीण समाज की विशेषतायें एवं लक्षण

15.4 ग्रामीण समाज में परिवार एवं विवाह

15.5 ग्रामीण समाज व समुदाय को विकसित करने वाले सहायक कारकों का अध्ययन

15.6 वर्तमान समय में ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारक

15.7 भारतीय ग्रामीण समाज का वर्तमान स्वरूप व भविष्य

15.8 सारांश

15.9 परिभाषिक शब्दावली

15.10 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

15.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

15.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

15.13 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

सामान्यतः हम गाँव शब्द से अभिभूत होते हैं तब हमें पता चलता है कि गाँव का समाज एक ऐसा समाज होता है जहाँ अपेक्षाकृत अधिक समानता, अनौपचारिकता, प्राथमिक समूहों की प्रधानता, जनसंख्या का कम घनत्व तथा कृषि व्यवसाय की प्रधानता जैसी कुछ विशेषतायें मुख्य तौर पर देखी जाती हैं। गाँव का मुख्य पेशा कृषि होता है। वहाँ के लोगों का जीवन सरल व सादगीपूर्ण होता है। वे लोग सरल व सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। उनके आपसी संबंध प्राथमिक होते हैं। उनमें सामुदायिक भावना पाई जाती है। वे एक-दूसरे के लिए समर्पित रहते हैं। ग्रामीण समाज में आज भी जजमानी व्यवस्था पाई जाती है। गाँव के समाज को लघु परन्तु घनिष्ठ समुदाय माना जाता है। ग्रामीण समुदाय को विकसित करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कारक होते हैं जिनकी सहायता से गाँव का विकास तेजी से होता जाता है परन्तु वर्तमान परिदृश्य को यदि हम देखते हैं तो साफ जाहिर होता है कि कुछ ऐसे भी कारक हैं जो ग्रामीण समाज की जीवनशैली को विघटित करती है। इस प्रकार हम ग्रामीण समाज के अध्ययन के स्वरूप विभिन्न बिन्दुओं पर विचार करेगें जो ग्रामीण समाज को प्रभावित करती है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई के अर्न्तगत हम ग्रामीण समाज के विभिन्न रूपों का अध्ययन करेंगे-

- ग्रामीण समाज का अर्थ व परिभाषायें स्पष्ट करेंगे।
- ग्रामीण समाज की विशेषाताओ एवं लक्षणों को स्पष्ट करेंगे।
- ग्रामीण समाज में परिवार एवं विवाह के बारे में जानेंगे।
- ग्रामीण समाज व समुदाय को विकसित करने वाले सहायक कारकों का अध्ययन करंेगे।
- वर्तमान समय को ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारक।
- भारतीय ग्रामीण समाज का वर्तमान स्वरूप व भविष्य क्या है।

15.2 ग्रामीण समाज का अर्थ व परिभाषायें

ग्रामीण समाज के अर्थ को स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि सामान्य रूप से ग्रामीण समाज की संरचना तथा विकास के नियम किसी विशिष्ट ग्रामीण समाज का नियंत्रण एवं संचालन करने वाले

असाधारण नियम को पता लगाने में सहायता प्रदान करता है। ग्रामीण समाज का मूलभूत कार्य ग्रामीण जीवन के विकास के नियमों की खोज करना है।

स्टूअर्ट चेपिन ''इन्होनें ग्रामीण समाज को परिभाषित करते हुए कहा कि ग्रामीण जीवन को समाजशास्त्र ग्रामीण जनसंख्या, ग्रामीण सामाजिक संगठन और ग्रामीण समाज में काम करने वाली सामाजिक प्रकियाओं का अध्ययन करती है।''

सेण्डर सन ''इन्होनें ग्रामीण समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि ग्रामीण समाज ग्रामीण पर्यावरण के जीवन का सामाजिक अध्ययन है।''

लारी नेल्सन ''इन्होनें ग्रामीण समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि ग्रामीण समाज की विषय वस्तु ग्रामीण पर्यावरण में उन विभिन्न प्रकार की प्रगति का वर्णन विशलेषण करना है जो उस पर्यावरण में विद्यमान होता है।''

उपरोक्त ग्रामीण समाज की अवधारणा अर्थ एवं परिभाषा को पढ़ने के उपरान्त इस भाग के अर्न्तगत यह जान गये होगें कि ग्रामीण समाज ग्रामीण पर्यावरण जुड़े हुए अनेक मामलों, समस्याओं, तथ्यों व सामाजिक संबंधों का विस्तृत अध्ययन करता है। एक विज्ञान के रूप में ग्रामीण समाज गाँव के विभिन्न संगठनों, संस्थाओं, प्रक्रियाओं, आर्थिक, सामाजिक ढांचे का अध्ययन करता है जो गाँव के विकास कार्यक्रम व गाँव की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

15.3 ग्रामीण समाज की विशेषताएँ एवं लक्षण

1. कृषि ही मुख्य व्यवसाय है- यदि हम ग्रामीण समुदाय की परिभाषा की ओर ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि ग्रामीण समुदाय का मुख्य आधार कृषि ही है। प्राकृतिक रुप से ग्रामीण समुदाय और कृषि बिना एक-दूसरे के ठीक वैसे ही अधूरे हैं जैसे- जीव बिना देह। कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रामीण समुदाय का मुख्य आधार कृषि है।

2. जनसंख्या की समानता- ग्रामों में जनसंख्या का अभाव तथा व्यवसाय होने के नाते ग्रामों मे निवास करने वाले व्यक्तियों में समानता पाई जाती है अथवा व्यवसाय, स्वभाव, रहन-सहन, आपसी संबंध और दिनचर्या आदि प्रायः एक सी हैं।

3. परिवार एक आधारभूत व नियंत्रण इकाई के रूप में- ग्रामों में परिवार ही सामाजिक जीवन की आधारभूत ईकाई मानी जाती है अर्थात् ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अधिकांश रूप से उसके परिवार पर ही निर्भर करती है। यही एक कारण है कि ग्रामों के परिवार को ही अत्यधिक महत्व दिया जाता है।

4. संयुक्त परिवार प्रणाली- ग्रामों में प्रायः संयुक्त परिवार हैं। ऐसे परिवार हैं जिनमें संयुक्त संगठन के आधार पर अनेक संबंधों की एक ही सम्मिलित व्यवस्था होती है। परिवार का समस्त आय-व्यय उसके सभी सदस्यों की आय पर निर्भर करता है। परिवार का प्रत्येक कार्य खाना, पीना, रहना, खर्च आदि की भी सम्मिलित व्यवस्था होती है। संयुक्त परिवार 'सबके लिए एक और एक के लिए सब' के सिद्धान्त पर चलता है।

5. जजमानी प्रथा- ग्रामों में प्रत्येक जाति अपना परम्परागत पेशा करती आ रही है। इन पेशों को करने से इनकी सेवाओं द्वारा एक जाति का सम्पर्क दूसरी जाति से स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार सभी जातियों का संबंध किसी न किसी जाति से निर्धारित है। इस प्रकार विभिन्न जातियों के पारस्परिक संबंध की एक अभिव्यक्ति जजमानी प्रथा है। प्रत्येक जाति के सदस्य के कुछ अपने जजमान होते हैं, जिन्हें वह पुश्तों से अपनी सेवा प्रदान करता चला आता है। जैसे-धोबी कपड़े धोने का, ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करता है। जजमान इस प्रकार की सेवाओं के लिए अनाज, कपड़ा और नकद धन भी सेवा करने वालो को देते हैं।

6. सादा और शुद्ध जीवन- ग्राम का कृषक अपने श्रम द्वारा इतना ही कमा पाता है कि उसकी मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति में खर्च हो जाता है। इसके लिए आराम की वस्तुओं को उपयोग करना सपना बना रहता है। इसके लिए उसका जीवन सरल, सादा होता है। अतः उसमें छल-कपट की भावना नहीं होती और उसका जीवन शुद्ध होता है।

7. शान्तिपूर्ण स्थायी पारिवारिक जीवन- ग्रामों में प्रायः परम्परा, धर्म और जनमत के साथ-साथ नैतिक आदर्शों की कठोरता के कारण रोमांस का सर्वदा अभाव रहा है। वहाँ विवाह सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक संस्कार मानकर किया जाता है। पत्नी बाहर न जाकर घर पर ही कार्य करती है और पति की सेवा करती है। यह परिवार की देख-रेख करती है। वैवाहिक संबंध स्थायी और शान्तिपूर्ण होने से पारिवारिक जीवन स्थायी और शान्तिपूर्ण बन जाता है।

8. स्त्रियों की निम्न दशा - ग्रामीण समाज में पर्दा प्रथा, बाल-विवाह पुरूषों द्वारा स्त्री को हेय समझना, परिवार का बोझ होना, रूढ़िवादिता का होना आदि परिस्थितियों के कारण स्त्रियों का स्तर निम्न होता है। स्त्रियां न केवल परिवार के समस्त निर्धारित कार्य ही करती है, बल्कि पुरूषों के साथ खेतों में भी कार्य करने जाती हैं। उन्हें पुरूषों से अधिक कार्य करना पड़ता है। अतः ग्रामीण जीवन में स्त्रियों की दशा अत्यन्त ही सोचनीय है।

15.4 ग्रामीण समाज में परिवार एवं विवाह

परिवार के अर्न्तगत विभिन्न बिन्दुओं पर विचार करते हैं जैसे- ग्रामीण समाज में मुख्यतः परिवार में पति-पत्नी का संबंध मधुर व घनिष्ठ होता है। उनके आपसी संबंध स्नेहपूर्ण होते हैं। सामान्य निवास स्थान व घर होता है। दोनों परिवार रक्त संबंधों से बंधे होते हैं। वंश नाम की एक प्रणाली होती है। ग्रामीण परिवार के मुख्य विशेषताओं के रूप में कृषि कार्य उनका व्यवसाय होता है। ग्रामीण समाज का परिवार मुख्यतः संयुक्त होता है जहाँ माता-पिता, चाचा-चाची, दादा-दादी आदि के साथ ममेरे, फुफेरे भाई-बहन भी होते हैं। सभी सदस्य एक दूसरे से पारस्परिक रूप से जुड़े व निर्भर रहते हैं। परिवार के सभी सदस्यों में एकरूपता पाई जाती है। परिवार के मध्य अनुशासनबद्धता व नियंत्रण की शक्ति भी देखी जाती है। बड़े बुर्जगों का आदर-सम्मान किया जाता है। पारस्परिक सहयोग की भावना सभी सदस्यों में देखी जाती है। परिवार का अपना महत्व व प्रभाव होता है जो ग्रामीण समाज की विशिष्टता है।

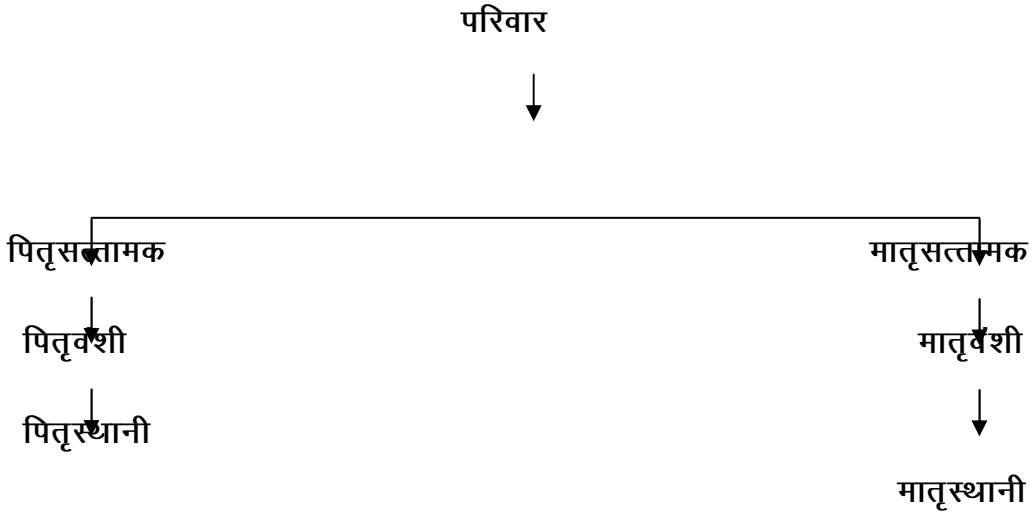

ग्रामीण समाज में एक विवाही परिवार, बहु-पत्नी विवाही परिवार, बहु-विवाही परिवार, भार्तिक बहु-पति विवाही परिवार आदि भी देखने को मिलते हैं। ग्रामीण समाज अपने सभी कार्यों का वहन बखूबी करते हैं जैसे- प्राणीशास्त्रीय, जैविक कार्य, मनोवैज्ञानिक कार्य, वस्त्रों का प्रबंध, बच्चों का पालन-पोषण, भोजन का प्रबंध, शिक्षा की व्यवस्था, चिकित्सा सुविधा, शादी-विवाह, धार्मिक कार्य, कर्म-काण्ड, भोज-पाटी आदि की व्यवस्था से संबंधित कार्य परिवार के सदस्यों द्वारा किया जाता है।

विवाह ग्रामीण समाज में विवाह का खास महत्व है। विवाह का अनिवार्यता के रूप में लिया जाता है। विवाह का उद्देश्य मुख्यतः परिवार की स्थापना, सन्तोत्पति, आर्थिक सहयोग, बच्चों का पालन-पोषण व मानसिक शान्ति को स्थापित करने के लिए किया जाता है। ग्रामीण समाज में अनुलोम व प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह देखने को मिलते हैं।

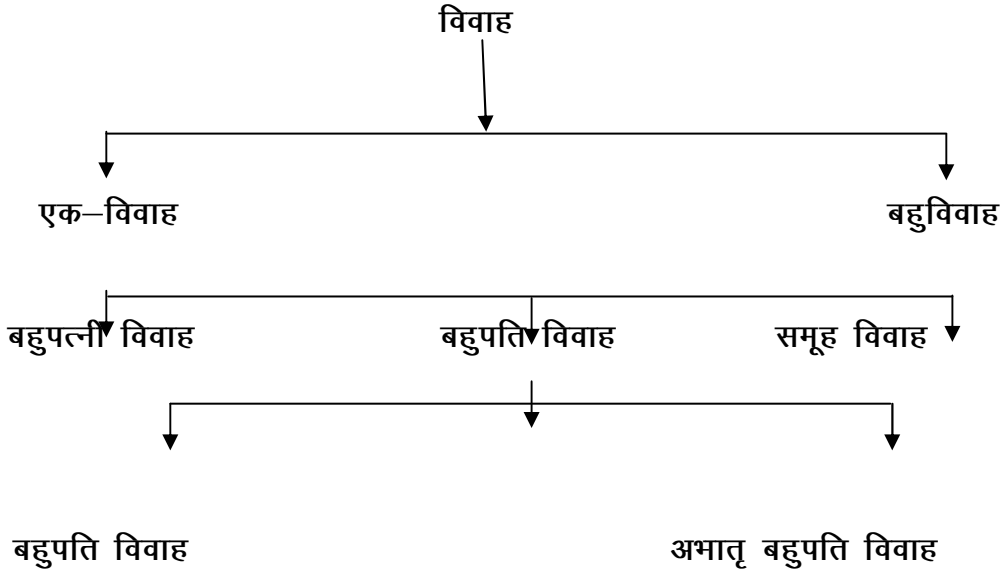

विवाह की महत्ता ग्रामीण समाज में इसलिए है क्योंकि विवाह एक मौलिक सामाजिक संस्था है। विवाह समाज कल्याण के लिए अति महत्वपूर्ण है। विवाह द्वारा सामाजिक स्थिति सुदृढ़ होती है। विवाह समाज के सदस्यों को व्यविचार करने से बचाता है। विवाह समाज के अस्तित्व को बनाये

रखता है तथा निश्चितता प्रदान करती है। विवाहोपरान्त समाज में व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक संतोष प्राप्त होता है। इसी प्रकार ग्रामीण समाज की नातेदारी व्यवस्था की रीतियां एवं प्रथायें भी सम्पूर्ण ग्रामीण परिवेश को प्रभावित करती हैं।

5.5 ग्रामीण समाज व समुदाय को विकसित करने वाले सहायक कारकों का अध्ययन

ईकाई के इस भाग में ग्रामीण समाज को विभिन्न सहायक कारकों द्वारा अध्ययन किया जा रहा है जो ग्रामीण समुदाय को विकसित करने में सहायक है-

1. प्रादेषिक कारक:- इसके अर्न्तगत प्रादेशिक अवस्थायें, प्राकृतिक उपज, भूमि की बनावट, भूमि का उपजाऊपन, पानी के साधन, पशुपालन की सरलता और जलवायु की दशायें आती हैं।

ii) प्राकृतिक अवस्था- प्राकृतिक अवस्था के अनुकूल होने पर ही ग्रामीण समुदाय का जन्म एवं विकास सम्भव हो सका।

iii) भोजन- भोजन मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं में सर्वोपरि है। जहाँ भोजन की सुविधा है वहाँ ग्रामीण समुदायों का तीव्र गति से विकास होता है। पहाड़ी प्रदेशों की अपेक्षा मैदानी प्रदेश में ग्रामीण समुदाय के विकास का यही भोजन कारण है।

iv) पशुपालन- ग्रामीण ग्राम समुदाय का दायां हाथ है तो पशु बांया हाथ कहा जा सकता है। पशुओं का ग्रामीण समुदायों के लिए कम महत्व नहीं है। पशुओं की उपलब्धि का काफी प्रभाव पड़ता है। पहाड़ों की अपेक्षा मैदानां में पशुपालन की सरलता होती है।

v) जलवायु- जलवायु की अनुकूलता ग्राम समुदायो के स्वरूप को जन्म देती है तथा विकास में सहायता मिलती है। जिस ग्रामीण समुदाय की जलवायु जितनी उत्तम होगी उतनी ही वहाँ उपज अधिक होगी और उतने ही मनुष्य परिश्रमी होगें।

2. आर्थिक कारकः- आर्थिक कारकों से तात्पर्य व्यवसाय व उद्योग-धन्धों से होता है। आर्थिक कारक निम्न प्रकार से कहे जा सकते हैं।

i) अनाज की उत्पत्ति- जिस ग्रामीण समुदाय में कम अनाज उत्पन्न होगा वह निर्यात नहीं कर सकता और न ही दूसरे उपभोग की वस्तुओं का आयात कर सकता है वरन् उसे अपने अनाज पर ही

निर्भर रहना पड़ता है। इसके विपरीत यदि अनाज की उपज अत्यधिक होती है जो वह उसे निर्यात तथा अन्य वस्तुओं का आयात कर सकता है। धन संचय कर सकता है। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण समुदायों में गन्ना उत्पन्न कर निर्यात किया, अतः उन्नति हुई। मध्य भारत में यह सुविधा नहीं थी।

ii)उपज में सुधार- जहाँ कृषि में नवीन प्रणालियाँ अपनाई जाती हैं, उत्तम खाद, बीज आदि काम में लिये जाते तथा कृषि अनुसन्धान के अनुसार कृषि होती है वहाँ के ग्रामीण समुदाय विकसित होते हैं तथा ये सुविधाये जहाँ पैदा हो जाती हैं वहाँ पर ग्रामीण समुदायो का जन्म होता है।

iii) कुटीर उद्योग-धन्धे- कुटीर उद्योग-धन्धे ग्रामीण समुदायो की आर्थिक दशा की उन्नति कर ग्रामीण समुदायों का विकास करते हैं। अंग्रेजों के द्वारा भारत में कुटीर उद्योगों के विनाश से ग्राम समुदाय मृतप्रायः हो गये तथा उनमें पुनः प्राण फूंकने के लिए सामुदायिक विकास योजना के अर्न्तगत कुटीर उद्योगे का विकास किया जा रहा है।

3. सामाजिक कारक:- सामाजिक कारक दो दृष्टिकोणों से देखे जाते हैं-

i) **बाह्य परिस्थिति-** सामाजिक कारकों के अर्न्तगत सामाजिक शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता आते हैं। ये सभी ग्रामीण समुदायों के विकास में बड़ा योग देते हैं। हिन्दु और मुगल शासकों के काल में गुलाम, लोदी, खिलजी वंश के शासन के समय की अपेक्षा अधिक विकास हुआ क्योंकि गुलाम, लोदी, खिलजी वंश के शासकों के समय युद्ध, मार-काट, लूटमार का बोलबाला था। मुगल काल में शान्ति सुरक्षा और स्थिरता थी। राज्य के स्थायी स्वरूप से शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता की भावनायें ग्राम समुदायों में वास्तविक सहायता देती हैं।

ii) **आन्तरिक परिस्थिति-** सामाजिक शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता को बनाये रखने और ग्राम समुदायों के विकास के लिए आन्तरिक परिस्थितियाँ भी सहायक होती हैं। इनमे भूमि संबंध मुख्य है। एक समुदाय में भूमिहीन, अत्यन्त छोटे और असाधारण बड़े जमींदारों की उपस्थिति विभिन्न वर्गों में द्वेष और घृणा की सृष्टि करती है और इससे सामाजिक एकता को एक बड़ा धक्का लगता है।

बोध प्रश्न -1

1. जजमानी व्यवस्था किस समाज में पाई जाती है?

.....

.....

.....

2. संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन ज्यादा कहाँ है?

.....

.....

.....

3. ग्रामीण समाज का मुख्य व्यवसाय क्या है?

.....

.....

.....

4. ग्रामीण समाज की लाक्षणिक विशेषताये क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

5. इस समय भारत में गाँव की संख्या क्या है?

.....

.....

.....

.....

15.6 वर्तमान समय में ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारक

भारतीय ग्रामीण समुदाय एक लम्बे अर्से से सुसंगठित समुदाय रहा है। यह इतना शक्तिशाली समुदाय रहा है कि कुछ विद्वानों ने तो इसे गणराज्य तक कहा है। परन्तु भारत का यही ग्रामीण समुदाय, जो भूतकाल में गणराज्य कहा जाता था, अब इतना शक्तिशाली नहीं रहा, क्योंकि अब इसमें विघटनकारी तत्व प्रविष्ट हो गये हैं, जिसके कारण समुदाय का विघटन आरम्भ हो गया है। विघटन की यह प्रक्रिया वैसे तो बींसवी शताब्दी के आरम्भ से ही चालू हो गई थी, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त से और भी अधिक तीव्र हो गई है। औद्योगिकरण एवं नगरीयकरण के फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय का विघटन और भी तेज हो रहा है।

इस प्रकार निम्न बिन्दुओं द्वारा हम यह स्पष्ट करेगे कि ग्रामीण समुदाय को विघटित करने में किन-किन कारकों का योगदान रहा है-

पंचायतों का पतन- प्राचीन काल से ही भारत में पंचायतों का महत्व रहा है। ग्रामीण स्तर के सभी झगड़ों का फैसला ग्राम की पंचायतें ही कर लेती थी, किन्तु ब्रिटिश शासन काल में दीवानी, फौजदारी तथा माल के मुकदमों के लिए अलग-अलग न्यायालय स्थापित हो जाने के कारण ग्रामो की पंचायतों का महत्व घट गया। अब ग्राम के निवासियों को नगरों से दूर स्थित न्यायालयों में जाकर वकीलों को फीस देकर न्याय प्राप्त करना होता था। यह व्यवस्था इतनी महंगी रही है कि केवल

जमींदारों को ही इसमे लाभ पहुँच रहा है और शेष कृषक वर्ग का सदैव शोषण होता रहा है। ऐसी दशा में ग्रामों का विघटित होना स्वाभाविक ही था

नवीन राजनीतिक परिस्थितियाँ- स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त समुदाय नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन न कर सका। ग्रामीण समुदाय के लोगों में शिक्षा का अभाव सदा ही रहा है। वे प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के सिद्धान्तों को नहीं समझ पाये। वे मताधिकार का प्रयोग सही ढंग से न कर पाये। अतएव नवीन राजनीजिक परिस्थितियों में ग्रामीण समाज का विघटन अनिवार्य हो गया है।

ग्रामीण उद्योग-धन्धों का पतन- भारत का ग्रामीण समुदाय आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर समुदाय था। वहाँ के निवासियों के पास अपनी जीविका कमाने के लिए छोटे-छोटे धन्धे थे। कपड़ा बुनना, रंगना, सूत काटना, टोकरी बनाना आदि छोटे कार्य करके वे अपनी जीविका कमाते थे किन्तु ब्रिटिश शासन काल में कारखाने चलने के कारण इन उद्योग धन्धों का पतन हो गया और ग्रामीण समुदाय के निवासियों को अपनी जीविका खोजने में नगरों में शरण लेनी पड़ती थी जिससे ग्रामीण समाज का पारिवारिक विघटन आरम्भ हुआ।

औद्योगीकरण- आधुनिक युग में कल-कारखानों के बढ़ जाने से नगरों का विकास हो गया। उद्योग-धन्धों का विकास होने लगा और ग्रामीण निवासियों को नगरों की ओर मजदूरी करने के लिए जाना पड़ा। ग्रामों के उद्योग-धन्धों का पतन होने से ग्रामों मे बेकारी फैल गई। नगरों की जनसंख्या बढ़ी और साथ ही साथ नगरों में वेश्यावृत्ति, जुआ, मद्यपान आदि में वृद्धि हो गई, जिससे व्यक्ति विघटन भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

भूमिहीन मजदूर कृषक- जमींदारी प्रथा के कारण ग्रामीण समाज मे जिन लोगों की संख्या बढी जिनके पास जमीनें नहीं थी और जो जमींदारों के आश्रित होकर कृषि का कार्य करते थे, किन्तु कृषक का सभी कार्य प्रकृति की कृपा पर निर्भर है। ओला, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के कारण जो संकट उपस्थित होते हैं, उनका उपचार ग्रामीण समुदाय के पास नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियों में ग्रामीण समुदाय परिवार विघटित हो जाते हैं।

जनसंख्या में वृद्धि- भारतीय ग्रामीण समुदायों में जनसंख्या की भी वृद्धि हुई। इस बढ़ी हुई जनसंख्या का भरण-पोषण करने में ग्रामीण समुदाय की भूमि असमर्थ रही है। इसलिए ग्रामीण समाज

में बेकारी, निर्धनता फैलने लगी। इन्हीं के फलस्वरूप ग्रामों में चोरी, डकैती होने लगी और ग्रामीण समाज विघटित होने लगे।

जातिवाद- भारत के ग्रामों में जातीयता का अधिक प्रभाव है। जातिवाद के कारण एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति से घृणा करता है। इस पारस्परिक घृणा के कारण भारत में ग्रामीण समाज का विघटन हुआ है।

बेकारी व निर्धनता- लघु उद्योग-धन्धों का पतन हो जाने के कारण ग्रामीण समाज में बेकारी और निर्धनता के कारण गामीण समुदाय के व्यक्ति को रोजगार की तलाश में इधर से उधर भटकना पड़ता है। इसके कारण भी ग्रामीण समाज का विघटन हो रहा है।

राजनीतिक भ्रष्टाचार- ग्रामीण समाज में व्यक्ति निर्धन व अशिक्षित होते हैं। निर्वाचन के समय राजनीतिक दलों के नेता ग्रामीण जनता को बहका देते हैं और उनके मतों को खरीद लेते हैं। इस राजनीतिक भ्रष्टाचार के कारण भी ग्रामीण समुदाय का विघटन हुआ है।

अपराधों में वृद्धि- आधुनिक युग में अनेकों कारणों से अपराधों में वृद्धि हुई है। ग्रामों में यातायात के साधनों का अभाव रहता है। अतएव पुलिस को वहाँ पहुँचने में भी समय लगता है। इसलिए अपराधियों को अपराध करके भागने में भी सुविधा होती है। अपराधों की संख्या में वृद्धि होने के कारण कुछ लोगों ने सुरक्षा प्राप्त करने के लिए ग्राम छोडकर नगरों में निवास स्थान बना लिया है।

नगरीकरण तथा स्थानान्तरण- औद्योगीकरण के कारण भारत में नगरों का विकास हुआ है। ग्रामों के उद्योग-धन्धों का पतन हो जाने के कारण ग्राम के लोग षहरों में बसने लगे हैं। नगरों की संख्या की वृद्धि को नगरीकरण और जनसंख्या के इधर-उधर जाने को स्थानान्तरण कहते हैं। इस कारण भी ग्रामीण समाज का विघटन हो रहा है।

15.7 भारतीय ग्रामीण समाज का वर्तमान स्वरूप व भविष्य

आज का वर्तमान परिवेश आधुनिकता को लिये हुए है। ग्रामीणीकरण की प्रवृत्ति धीर-धीरे समाप्त होती जा रही है और नगरीकरण का वातावरण उत्पन्न हो रहा है। एक समय में भारत को गाँव का देश कहा जाता था परन्तु आज नगरों का विकास तेजी से होता जा रहा है और गाँव धीरे-धीरे विलुप्त होते जा रहे हैं। गाँव की संस्कृति में सरलता, प्राथमिकता, अनौपचारिक संबंध, समर्पण की भावना,

सहयोगात्मक प्रवृत्ति, नैतिकता का पतन, अनुशासनहीनता, नियंत्रण शक्ति का अभाव, माता-पिता का आदर-सम्मान आदि समाप्त होता जा रहा है।

आज ग्रामीण समाज में शिक्षा के प्रभाव से काफी परिवर्तन देखने को मिलता हैं। गांव में पक्के मकानों का निर्माण, तकनीकी तरीके से कृषि का विकास, पर्दा-प्रथा का अन्त, शिक्षा की अनिवार्यता, स्त्रियों को स्वतंत्रता, जजमानी प्रथा का अन्त, संयुक्त परिवार का विघटन, कर्म की प्रधानता, भाग्यवादिता का महत्व कम होना, जाति प्रथा का अन्त एवं पुत्र जन्म की प्रधानता समाप्त होती जा रही है। आज गाँव में भी पक्की सड़क, बिजली, यातायात की सुविधायें, संचार व्यवस्था, महिलाओं के लिए शिक्षा की अनिवार्यता आदि ग्रामीण परिवेश को परिवर्तित कर रही है। आज उत्तराखण्ड के कई गाँव को यदि हम देखते हैं तो पता चलता है कि वहाँ के लोगों का रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, बोलचाल, तौर-तरीके आदि शिक्षा की वजह से काफी बदल गया है। दूर गाँव से बच्चे भी उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए नजदीक के शहरों में महाविद्यालयों में आते-जाते देखे जा रहे हैं।

आज गाँव के परिवर्तित दृश्यों को देखकर हम यह अनुमान लगाते हैं कि गाँव का प्राचीनतम स्वरूप परिवर्तित होकर आधुनिक संस्कृति में समाहित होता जा रहा है। नगरीकरण का प्रभाव शिक्षा के द्वारा ग्रामीणों पर तेजी से पड़ रहा है। ग्रामीण नगरीय प्रवास में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस प्रकार भारतीय ग्रामीण समाज के भविष्य की यदि हम बात करते हैं तो सम्भवतः आधुनिकता के इस युग में गाँव का विकास दिन-प्रतिदिन तेजी से होता जा रहा है जिसे हम Rural Development and Modernization भी कहते हैं और आधुनिक ग्रामीण परिवर्तनों को देखकर यह कह सकते हैं कि वर्तमान समय में गाँव का भविष्य उज्जवल होता नजर आ रहा है।

बोध प्रश्न -2

1. ग्रामीण समाज का अर्थ स्पष्ट कीजिए एवं इसकी परिभाषाये लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2. ग्रामीण समाज की चार विशेषतायें लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3. ग्रामीण समाज के परिवार के संदर्भ में पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

15.8 सारांश

ग्रामीण समाज की जहाँ तक हम बात करते हैं तो पता चलता है कि जहाँ गाँवों का एक समुदाय, गाँव की संस्कृति, सरल जीवन, प्राथमिक संबंध, कृषि मुख्य व्यवसाय, सहयोग की भावना, कर्मठता, आदर भाव, नैतिक विचारधारा आदि देखने को मिलती है वह ग्रामीण समाज है। ग्रामीण समाज के लोग विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति करते हुए एक निश्चित क्षेत्र में निवास करते हैं। उनकी अपनी खास विशेषता होती है। कृषि उनका मुख्य व्यवसाय होता है। जनसंख्या का घनत्व कम होता है। वे प्रकृति के करीब होते हैं। निश्छलता से ओतप्रोत उनका स्वभाव होता है। ग्रामीण समाज का परिवार एक नियंत्रण ईकाई के रुप में कार्य करता है। गाँव में अधिकांशतः संयुक्त परिवार प्रणाली पाई जाती

है। समाज मे जाति के आधार पर सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्धारण किया गया है। जजमानी प्रथा का प्रचलन आज भी कई गाँव में प्रचलित है। ग्रामीण समाज का सम्पर्क बाहरी दुनिया से कम होता है। ग्रामीणों का जीवन सादा व शुद्ध होता है। गाँव मे सभी एक दूसरे को चाचा, काका, दादा, भईया, दीदी, दादी कहकर पुकारते हैं। गाँव का पारिवारिक जीवन नगरों की अपेक्षा शान्तिपूर्ण व स्थायी होता है। ग्रामीण समाज में स्त्रियों के बीच पर्दा-प्रथा, लज्जा, आदर-भाव आदि देखने को मिलता है। ग्रामीण समाज को विकसित करने के कई ऐसे कारक हैं जो गाँव के विकास में बढ़ावा देते हैं परन्तु कुछ ऐसे भी तत्व व कारक हैं जो ग्रामीण समाज को विघटित कर रहे हैं।

इस प्रकार ग्रामीण समाज के विभिन्न बिन्दुओं पर जब आप अध्ययन करेंगे तो स्पष्ट हो जायेगा कि भारत जो कि एक कृषि प्रधान देश है। भारतीय समाज का वर्तमान परिदृश्य क्या है और क्या ग्रामीण समाज का भविष्य उज्जवल है? इसे जान पायेंगे।

15.9 परिभाषिक शब्दावली

अनुलोम विवाह- उच्च जाति के लड़कों का निम्न जाति की लड़की के साथ विवाह को अनुलोम विवाह कहते हैं।

पितृवंषीय परिवार- जिस परिवार में वंश परम्परा पिता से चलती है और पिता के वंश का ही महत्व होता है तो वह पितृवंशीय परिवार कहलाता है।

ग्रामीण समाज- जिसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। जहाँ गांँव के लोग निवास करते हैं, उनका मुख्य पेशा कृषि होता है। वे सामान्य व सरल जीवन व्यतीत करते हैं तथा आपस में सामुदायिक एकता की भावना पाई जाती है, वह ग्रामीण समाज है।

15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1

1. ग्रामीण समाज में।
2. गांव में।
3. कृषि मुख्य व्यवसाय।

4. छोटा आकार, कृषि मुख्य व्यवसाय, स्थिर जीवन।

5. 5, 93, 643

बोध प्रश्न -2

1. इस प्रश्न का उत्तर इकाई के 15.2 भाग को पढ़कर समझकर स्पष्ट लिखिए।

2. इस प्रश्न का उत्तर इकाई के 15.3 भाग को पढ़कर समझकर किन्हीं चार विशेषताओं को लिखिए।

3. इस प्रश्न का उत्तर इकाई के 15.4 भाग को पढ़कर परिवार के बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखिए।

15.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

भारतीय समाज व संस्कृति- रविन्द्र नाथ मुकर्जी (विवेक प्रकाशन)।

ग्रामीण समाजशास्त्र - जी.के. अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)।

यूनीफाइड समाजशास्त्र- रविन्द्र नाथ मुकर्जी, भरत अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)

15.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Social Work - G.R.Madan (Vivek Prakashan)

Rural Sociology – V.N. Singh (Vivek Prakashan)

Rural & Urban Sociology – G.K. Agarwal (SEPD)

Indian Society & Culture – R.N.,Mukherjee (Vivek Prakashan)

15.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. वर्तमान में ग्रामीण समाज को विघटित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

2. ग्रामीण समाज को विकसित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

इकाई 16 नगरीय समाज

Urban Society

इकाई की रूपरेखा

16.0 प्रस्तावना

16.1 उद्देश्य

16.2 नगरीय समाज की जीवनशैली अर्थ एवं परिभाषायें

16.3 नगरीय समाज की विशेषतायें एवं लक्षण

16.4 नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक अध्ययन

16.5 नगरीय समाज की कुछ समस्यायें

16.6 सारांश

16.7 परिभाषिक शब्दावली

16.8 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

16.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

16.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

16.11 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

नगरीय समाज के अन्तर्गत हम नगर की जीवनशैली, विशेषतायें, विकास कार्य शिक्षा, परिवार आदि का वर्णन करते हैं। नगरीय समाज की आधुनिकता ने सम्पूर्ण सामाजिक परिदृश्य को परिवर्तित किया है। नगर विकास का केन्द्र स्थल है। यहाँ लोगों को शिक्षा, व्यवसाय, तकनीकी, मनोरंजन, व्यापार, चिकित्सा सुविधा सभी आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। नगर के विकास के लिय नगरीय योजना के द्वारा कई कार्य किये जाते हैं। नगरीय समुदाय नगर की विशेषाताओं से जाना जाता है। नगरीय जीवन एक पद्धति है। नगरीय समुदाय ग्रामीण समुदाय की तुलना में घना बसा हुआ है। नगर में सामूहिक जीवन की अपेक्षा वैयक्तिक जीवन की मूल्यों को अधिक मान्यता प्रदान की गई है। नगरीय समाज का व्यक्ति परम्परागत ढाचें से अलग-थलग होकर अपनी जिन्दगी जीता है। नगरीय समाज भीड़-भाड़ युक्त होता है जहाँ भावनाओं की कोई कदर नहीं होती है। स्वार्थ को पूरा करने के लिए लोग सम्बन्धों को अहमियत देते हैं। नगरीय समाज औपचारिकता पूर्ण होता है। स्वार्थ और औपचारिकता से सराबोर नगरीय संबंध कभी भी घनिष्ठ व स्थायित्व पूर्ण नहीं होते हैं। नगर का वातावरण कई कठिनाईयों व समस्याओं से जहाँ जुड़ा होता है वहीं उन समस्याओं के समाधान के लिए कानूनी व संवैधानिक प्रावधान भी उपलब्ध होते हैं। सुरक्षा के लिए पुलिस, कोर्ट, कचहरी व न्यायालय भी उपलब्ध हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नगरीय समाज की परिपाटी आधुनिकता की देन है। आज हम आधुनिक युग में जी रहे हैं जहाँ का समाज हमें वर्तमान परिदृश्यों से परिचित कराता है और हम विभिन्न प्रकार की भाषा, संस्कृति, कला, शिक्षा से परिचित होते रहते हैं जो आधुनिकता एवं परिवर्तनशीलता का स्रोत है।

16.1 उद्देश्य

इस ईकाई के अन्तर्गत हम-

- नगरीय समाज की जीवनशैली तथा अर्थ एवं परिभाषा से अवगत होंगे।
- नगरीय समाज की विशेषता एवं लक्षण को स्पष्ट करेंगे।

- नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक अध्ययन करेगे।
- नगरीय समाज की कुछ समस्याओं के बारे मे जानेंगे।

16.2 नगरीय समाज की जीवनशैली अर्थ एवं परिभाषायें

नगरीय समाज ग्रामीण समुदाय की तरह ही छोटे-छोट समुदायों से मिलकर बना है। नगरीय समाज के अर्न्तगत हम विभिन्न नगरीय समुदायों का निर्माण करते हैं व संगठन बनाते हैं जिसके माध्यम से नगरीय समाज के विभिन्न कार्यों में एक पूर्ण रूप दिया जाता है जो नगरीय समाज के विकास के लिए आवश्यक है। नगरीय समाज के लोगों के बीच प्राथमिकता कम बल्कि द्वैतीयक संबंध जो विभिन्न औपचारिकता को पूरा करते हैं वो पाये जाते हैं। नगरीय समाज में मानव के व्यक्तित्व का विकास तेजी से आधुनिकता की ओर होता है। नगर मुख्यतः विकास व प्रगति का केन्द्र स्थल है। यहाँ विभिन्न प्रकार के शोध व अनुसंधानों द्वारा विकासात्मक कार्य किये जाते हैं जिससे समाज व व्यक्तित्व दोनों को फायदा होता है। नगरीय समाज की सुख-सुविधाओं की वजह से मानव जीवन भी सुव्यवस्थित व प्रगतिपूर्ण हो जाता है।

नगरीय समाज को कुछ विद्वानों ने अपने शब्दों में परिभाषित किया है, जैसे-

लौरी नेल्सन ने नगरीय समाज समाज को परिभाषित करते हुए यह कहा है कि ''नगरीय समाज नगरीय पर्यावरण में व्यक्तियों के साथ नगरीय समूहों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन है।''

एगोन अरनेस्ट बर्गल ने अपनी कृति Urban Sociology में लिखा है ''कि नगरीय समाज सामाजिक कार्यों, सामाजिक संबंधों, सामाजिक संस्थाओं और नगरीय जीवन ढंगों पर आधारित सभ्यता के प्रकारों पर नगरीय जीवन के प्रभावों का अध्ययन करता है।''

एण्डरसन ने ''नगरीय समाज को मात्र नगर तक ही सीमित न रखकर कस्बों को भी शामिल किया है, जहाँ नगरीकरण की प्रकिया को जीवन पद्धति के संदर्भ में विकसित होते हुए देखा जा सकता है। नगरीय समाज में लोगों के मध्य पारस्परिक संबंधों के प्रतिमानों का स्वरूप भी द्वैतीयक होता है। नगरीय समाज के लोगों में व्यक्ति प्रखरता अधिक पायी जाती है।''

लुईस बर्थ ने ''नगरीय समाज व नगरवाद को एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति कहते हैं। नगरीय समाज का विशाल रूप ही नगरीकरण की प्रकिया हो आगे बढ़ाते हुए आधुनिकता को प्रोत्साहित करती है।''

16.3 नगरीय समाज की विशेषताएं एवं लक्षण

नगरीय समाज के अर्न्तगत सामाजिक विजातीयता की भावना पाई जाती है। गाँव में सांस्कृतिक एकता की भावना पाई जाती है तो नगरों में अनेक संस्कृतियाँ और प्रजातियों के लोग पाये जाते हैं। गाँव प्राचीन संस्कृति को बनाये रखते है तो नगर अनेकों संस्कृतियों की संस्थाओं, विचारों, आदर्शों आदि के सम्मेलन से संस्कृति का विकास करते हैं और उनमें परिवर्तन उत्पन्न होता है। नगर के समाज में सैकड़ों व्यवसायों, व्यापारों , जातियों और विचारधाराओं के लोग बसते हैं।

- नगरीय समाज में माध्यमिक नियंत्रण की प्रकिया पाई जाती है। नगरों में बहुत से माध्यमिक समूह होते हैं। अतः माध्यमिक नियंत्रण ही नगरीय समाज को सुव्यवस्थित करने में प्रबल होता है। परिवार, जाति, बिरादरी को कोई भय नहीं होता। कानून, जेल और पुलिस का भय लोगों के व्यवहारों को नियंत्रित करता है।
- नगरीय औद्योगिक समाज की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामाजिक गतिशीलता है। नगर में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म से नहीं बल्कि उसके कर्मों और आर्थिक स्थिति से निश्चित होती है। हर व्यक्ति अपने परिश्रम, बुद्धि, बल के आधार पर समाज में ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकता है। वहाँ जाति-पाति का बंधन नहीं है। अन्तर्जाति विवाहों की बहुलता है। स्त्री शिक्षा सर्वोपरि है। विकास के सभी स्थल खुले हैं।
- नगर में व्यवसाय, वर्ग, धर्म, संस्कृति आदि की इतनी विविधता के कारण वहाँ ऐच्छिक समितियाँ अधिक पाई जाती हैं। परिवार जैसे प्राथमिक समूह तक में स्वेच्छा की प्रवर्तियों पाई जाती हैं।

ऐच्छिक समितियाँ तथा माध्यमिक नियंत्रण आदि अनेक कारणों से नगरवासियों में वैयक्तिकता विकसित हो जाती है। शहर के व्यक्ति पर आचार-विचार के संबंध परम्पराओं का नियंत्रण उठ जाता है। वह अपने अनुकूल तौर-तरीके और आदर्श को निश्चित करता है इससे जहाँ उसके व्यवहार में उच्च श्रृखलता आती है वहाँ उसके व्यक्तित्व का भी विकास होता है।

- नगर में गाँवों के समान सामुदायिक भावना दिखाई नहीं पड़ती, वहाँ ना लोक निन्दा का भय होता है और पास-पड़ोस का ख्याल, सब अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते हैं, किसी को किसी के लिए समय नहीं होता है।
- नगरीय समाज में अपराधों की बहुलता देखी जाती है। वहाँ के समाजों में चोरियां, खून, व्यभिचार, भ्रूण हत्या, भ्रष्टाचार, बाल अपराध, वैश्यावृत्ति, जालसाझी, डकैती, हत्या आदि विभिन्न प्रकार के अपराध पनपते रहते हैं।
- सामुदायिक भावना और पारिवारिक एकता के अभाव तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भोग विलास के वातावरण के कारण नगरीय समाज में चरित्र और नैतिकता में शिथिलता दिखाई पड़ती है। नगर की भीड़भाड में समाज अथवा परिवार का नियंत्रण नहीं समझा जाता।

नगरीय समाज में समाज अव्यवस्थित होने के कारण और अपराधिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होने के कारण सामाजिक विघटन की स्थिति पैदा होती है। इन सब कारणों से नगरीय समाज में असन्तोष व अशान्ति फैलती है। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष चलते रहते है । वर्गवादी भावनायें प्रबल होती है। हरताल, दंगे, फसाद होते रहते हैं। सम्प्रदायिकता, दलबंधी, व्यक्तिवादिता आदि की स्थितियाँ पैदा होती रहती हैं और व्यक्ति और समाजों के संबंधों में सामंजस्य दिखाई नहीं पड़ता है।

बोध प्रश्न -1

1. नगरीय जीवन अत्यधिक जटिल होता है इसे क्या कहेंगे।

….....
.....
.....
.....
.....

2. व्यक्ति प्रकृति से दूर होता गया यह किस बात का सूचक है।

.....
.....

.....
.....

3. नगर व्यक्ति की विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति का केन्द्र होता है, ये किसका द्योतक है।

.....
.....
.....
.....
.....

4. नगर के उत्थान एवं पतन की छः अवस्थायें होती हैं, किसने कहा।

.....
.....
.....
.....
.....

5. किसने कहा है कि नगरों का विकास धातु युग में हुआ है।

.....
.....
.....
.....

16.4 नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुल्नात्मक अध्ययन

उपरोक्त बातों से आप जान गए होगें कि नगरीय समाज में किन-किन बातों का अध्ययन करते हैं। नगरीय समाज की प्रवृत्ति ग्रामीण समाज के साथ कौन सी भिन्नताओं को लिये हुए होता है, इसका अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट करेंगे।

1. जनसंख्या की प्रकृति के दृष्टिकोण से ग्रामीण समाज का आकार काफी छोटा होता है। जनसंख्या का घनत्व कम होता है। ग्रामीण समूहों द्वारा एक-दूसरे से हट कर अपने लिए आवासों का निर्माण करना होता है। ग्रामीणों की जीवनशैली, रहन-सहन, आय से स्तर तथा मनोवृत्तियों में काफी समानता होने के कारण गाँव में एक ऐसा समाज विकसित होता है जिसे हम समरूप समाज के नाम से जानते हैं।

ग्रामीण समाज की तुलना में नगरीय समाज का आकार बड़ा होता है। भारत में इस समय नगरों की 15 करोड़ से भी अधिक आबादी उन नगरों में रहती है जिसमें से प्रत्येक की जनसंख्या 1 लाख से भी अधिक है। जनसंख्या की विभिन्नता नगरीय समाज का एक अन्य लक्षण है। यहाँ विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्गों, मनोवृत्तियों और व्यवसायों के लोग साथ-साथ रहते हैं। इसलिए उनकी जीवनशैली में कोई समानता देखने को नहीं मिलती।

2. सामाजिक संरचना के दृष्टिकोण से परिवार, नातेदारी, धर्म, अर्थव्यवस्था, शिक्षा और सामाजिक मूल्यों का ग्रामीण समाज में प्रमुख स्थान दिया गया है। ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली सबसे छोटी ईकाई रखती है। उनकी सामाजिक प्रस्थिति परिवार और नातेदारी के अनुसार निर्धारित होती है। यही कारण है कि गाँव में विवाह को भी दो व्यक्तियों का संबंध न मानकर दो परिवारों का संबंध मानते हैं।

नगरीय समाज में सामाजिक संरचना से सम्बन्धित कई भिन्नतायें देखने को मिलती हैं। व्यक्ति के जीवन में परिवार व नातेदारी का अधिक महत्व नहीं होता। धर्म को एक प्रमुख सामाजिक मूल्य के रूप में नहीं देखा जाता। मूल्यों का प्रभाव कम होता है। नगरीय समाज की सामाजिक संरचना अनेक उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों में विभाजित होती है और इन सभी वर्गों में स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

3. सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर ग्रामीण समाज के लक्षण यह है कि व्यक्ति की सामाजिक की प्रस्थिति का निर्धारण परिवार, नातेदारी तथा जाति के आधार पर होता है। इसे वह अर्जित नहीं करते बल्कि उन्हें प्रदान की जाती है। इसे हम प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। जिन ग्रामीणों के पास कृषि भूमि अधिक होती है साधारणतया उन्हें अधिक प्रतिष्ठा व शक्ति प्राप्त हो जाती है और नेतृत्व करने का अधिकार भी उन्हें प्रदान हो जाता है।

नगरीय समाज का स्तरीकरण खुली व्यवस्था के आधार पर होता है। यहाँ व्यक्ति की प्रस्थिति और प्रतिष्ठा का निर्धारण जाति अथवा जन्म के आधार पर नहीं होता। शिक्षा, आर्थिक सफलता, राजनीतिक शक्ति, सामाजिक सहभागिता और व्यवसाय की प्रकृति वे कसौटियाँ हैं जिनके आधार पर नगरीय समाज में व्यक्तियों को विभिन्न अधिकार और सुविधायें प्राप्त हो जाती है।

4. व्यवसाय की प्रकृति द्वारा अधिकांश ग्रामीण छोटे-मोटे व्यवसाय को करते हैं। कृषि उत्पादन के लिए अपनी भूमि को खुद जोतते हैं। ग्रामीण समाज का छोटा वर्ग कुटीर उद्योग, पशुपालन तथा दस्तकारी द्वारा जीवन उपार्जित करता है। व्यवसायिक जीवन में पुरूषों और स्त्रियों की समान सहभागिता देखने को मिलती है।

नगरीय समाज व्यवसायिक रुप से विभिन्नता युक्त है। यहाँ हजारों तरह से व्यवसाय लोगों की आजीविका के साधन होते हैं। व्यवसाय का उद्देश्य केवल अपनी उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करना ही नहीं होता बल्कि सम्पत्ति का संचय करना भी होता है। इस प्रकार नगरीय और ग्रामीण समाज की व्यवसायिक प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है।

5. सामाजिक नियंत्रण ग्रामीण समाज की औपचारिक व्यवस्था से बंधी होती है। अनौपचारिक नियंत्रण धार्मिक नियमों, प्रथाओं और परम्पराओं के द्वारा स्थापित किया जाता है। इसके अर्न्तगत प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निर्धारित व्यवहार के नियमों के अनुसार कार्य करना अपनी नैतिकता समझता है। ग्रामीण समाज में गाँव के वृद्ध तथा सम्मानित लोगों का पंचायत के निर्णय में विशेष स्थान व महत्व होता है, जिनके निर्णयों द्वारा सामाजिक व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है।

नगरीय समाज में नियंत्रण की व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस, गुप्तचर विभाग, कानून, न्यायालय द्वारा स्थापित किया जाना नियंत्रित व्यवथायें होती हैं। नगरीय समाज इतना बड़ा होता है कि उनकी प्रकृति में परिवर्तनशीलता का होना आवश्यक है। नगरों की भीड़ में व्यक्ति की स्थिति अज्ञान होने के कारण व कोई भी समाज विरोधी व्यवहार के द्वारा अपने स्वार्थ को पूरा करने में लगा रहता है। यही दशा नगरों में कानूनों के नियंत्रण को स्पष्ट करती है।

नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ उपरोक्त बिन्दुओं पर अध्ययन करने के उपरान्त हम यह जान गये होगें कि इन बिंदुओं के अलावा भी कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ है जो नगरीय समाज को ग्रामीण से भिन्नता प्रदान करती है जैसे सामाजिक संबंधों के प्रतिमान, गतिशीलता की भावना, सामाजिक

मनोवृत्तियाँ, आर्थिक संरचना का आधार, सांस्कृतिक जीवन, राजनीतिक जीवन, सामाजिक परिस्थितिकी आदि के द्वारा आप जान गए होगें कि आज का वर्तमान नगरीय समाज कई दृष्टिकोणों से ग्रामीण समाज से भिन्न स्थितियों में है।

बोध प्रश्न -2

1. नगरीय समाज की चार विषेशताओं का उल्लेख कीजिए।

.....
.....
.....
.....

2. नगरीय समाज का ग्रामीण समाज के साथ तुलनात्मक अध्ययन किन्हीं चार बिन्दुओं पर कीजिए।

.....
.....
.....
.....

3. नगरीय समाज की किन्हीं चार मुख्य समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

.....
.....
.....
.....

16.5 नगरीय समाज की कुछ समस्यायें

- नगरीय समाज में औद्योगिकरण एवं प्रौद्योगिक विकास का सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन पर दुष्प्रभाव पड़ रहा है जिससे समाज में कई समस्यायें उत्पन्न हो रही है।

- नगरीय जनसंख्या में वृद्धि से परिणामस्वरूप गरीबी, बेकारी, बेरोजगारी आदि की समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।
- कृषि का यंत्रीकरण होने के कारण वैसे कृषक, मजदूर बेरोजगारी के शिकार होते जा रहे हैं जिन्हें यन्त्रीकृत कृषि करने की पद्धतियों का पता नहीं है।
- नगरीय समाज में आवास की समस्या उत्पन्न हो रही है जिससे झुग्गी झोपड़ी, गन्दी बस्ती आदि मे वृद्धि हो रही है।
- नगरीय समाज में व्यवसायिक विभिन्नता की दृष्टि से कई समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं जिससे रोजगार के अवसर बढ़ रहे हैं परन्तु बेरोजगारों में भी वृद्धि हो रही है।
- नगरीय समाज में औद्योगिकरण के परिणामस्वरुप विभिन्न भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि के लोगो का एक जगह एकत्रित होने के कारण प्रजातंत्र के महत्व मे कमी होती जा रही है।
- प्राथमिक समूहों का विघटन होता जा रहा है और द्वैतीयक संबंधो में वृद्धि होती जा रही है।
- पारिवारिक स्वरूपों में परिवर्तन हो रहा है। एकांकी परिवार का प्रचलन एवं पारिवारिक विघटन की समस्या उत्पन्न हो रही हैं।
- व्यक्तिवादिता की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरे का अहित किया जा रहा है।
- जाति प्रथा का अन्त हो रहा है और नगरीय समाज में अर्न्तजातीय विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है।
- नगरीय समाज में पड़ोस के आपसी महत्व में कमी देखी जा रही है।
- नगरीय समाज की भौतिकवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहा है और अभौतिक संस्कृति विलुप्त होती जा रही है।
- नगरीय समाज के परिदृश्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि धर्म के प्रभाव में कमी एवं नास्तिकता का प्रचलन बढ़ रहा है।
- नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है एवं अनुशासनहीनता में वृद्धि हो रही है।
- नगरीय समाज प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण प्रचलन को बढ़ावा दे रहा है।
- नगरीय समाज में विशेषीकरण का दुष्प्रभाव देखा जा रहा है।
- नगरीय समाज में मशीनीकरण के प्रचलन से बेरोजगारी, बेकारी, एकाधिकार में वृद्धि, औद्योगिक अशान्ति और दुर्घटनाओं की संख्याओं में वृद्धि तथा असंतुलित विकास की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

- ग्रामीण जनसंख्या में कमी और नगरों की जनसंख्या में वृद्धि उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सूचक है।
- नगरीय समाज में नगरीकरण के कारण विषम आर्थिक व्यवस्था का जन्म हो रहा है।

उपरोक्त बिन्दुओं पर नगरीय समाज की समस्याओं का उल्लेख होने के उपरान्त आप जान गए होगें कि वर्तमान समय में नगर और नगर का समाज किस प्रकार विभिन्न प्रकार की समस्याओं से ग्रसित है। इन समस्याओं का समाधान कर हम मानव जाति नगरीय समाज को सुव्यवस्थित व संतुलित बनाने का अथक प्रयास अवश्य कर सकते हैं।

16.6 सारांश

नगरीय समाज आधुनिकता का जीता जागता स्वरूप है जो व्यक्ति तथा समाज में नवीनीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रकिया को उजागर करता है। नगरीय समाज सामान्य तौर पर कृत्रिमता पूर्ण होता है वहाँ बनावटीपना ज्यादातर देखने को मिलता है। नगरीय समाज के व्यक्तियों में औपचारिक संबंध ज्यादा होते हैं जो स्वार्थपूर्ण होता है। नगरीय समाज में प्रत्येक व्यक्तिगत विकास और स्वार्थ लाभ के कुछ भी करने को तैयार रहता है। नगरीय समाज की व्यवस्था तकनीकीय, धन लाभ से ओत-प्रोत, आधुनिकता को लिये हुए, संचार व यातायात की सुविधायुक्त, द्वैतीयक संबंधो पर आधारित देखी जाती है। नगरीय समाज में गाँवों की अपेक्षा जनसंख्या अधिक देखने को मिलती है। सामाजिक संरचना बनावटी पूर्ण होता है जिसका कोई स्थायित्व नहीं होता। औद्योगिकरण का विकास एवं तमाम सुविधाओं से परिपूर्ण नगरीय समाज होता है वहीं नगरीय समाज की कई समस्यायें देखने को मिलती हैं, जैसे- बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, यौन अपराध, वैश्यावृत्ति, गरीबी, पर्यावरण प्रदूषण, मिलावट, अलगाववाद, लैंगिक असमानता, जनसंख्या वृद्धि, अनैतिकता, पारिवारिक विघटन, सामाजिक जीवन की शिथिलता आदि। हम इन समस्याओं का समाधान कर या कम कर नगरीय समाज को सुव्यवस्थित बना सकते हैं।

16.7 परिभाषिक शब्दावली

ऐच्छिक समितियाँ - नगरीय समाज में कुछ ऐच्छिक समितियाँ होती है जैसे- वर्ग, धर्म, संस्कृति आदि के हम अपनी इच्छा से सदस्य बन सकते हैं या छोड़ सकते है।

नैतिक षिथिलता- नगरीय समाज में पारिवारिक एकता के अभाव में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव स्परूप नैतिक शिथिलता देखने को मिलती है।

अपराधों में बहुलता- नगरीय समाज में अधिकांशतः अपराधिक प्रवृत्तियाँ जैसे- चोरी, डकैती, हत्या, खून खराबा, लूट खसोट, भ्रूणहत्या, भ्रष्टाचार, जालसाझी आदि अपराध सामान्यतः देखे जाते है।

16.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1

1. प्रतिस्पर्धायी जीवन।
2. कृत्रिम जीवन।
3. वैयक्तिवाद।
4. ममफोर्ड के अनुसार।
5. मार्गरेट मूरे।

बोध प्रश्न -2

1. इस प्रश्न का उत्तर 16.3 भाग को पढ़कर लिखिये।
2. इस प्रश्न का उत्तर 16.4 भाग को पढ़कर लिखिये।
3. इस प्रश्न का उत्तर 16.9 भाग को पढ़कर लिखिये।

16.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1- Bronislaw Mallinowski dh iqLrd The Social Life of Savages in North Western Melanesia

2- Ralph Linton dh iqLrd The Study of Man ¼çdk'kd& Applenton Century]

3- Robert H.k. Lowie, Introduction to Cultural Anthropology

16.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ग्रामीण एवं नगरीय समाज- जी.के. अग्रवाल (साहित्य भवन)।

2. नगरीय समाज शास्त्र- डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा (एटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स)।

16.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. नगरीय समाज में उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

2. नगरीय समाज तुलनात्मक ढ़ग से क्या ग्रामीण समाज से ज्यादा विकसित है? स्पष्ट कीजिए।